भारतीय ग्रन्थमाला: संख्या २४

साम्राज्य, और उनका पतन

लेखक

भारतीय शासन, भारतीय जागृति, विश्व वेदना, और
अपराध-चिकित्सा आदि के रचयिता

भगवानदास केला

प्रकाशक

भारतीय ग्रन्थमाला, दारागंज, प्रयाग

दूसरा संस्करण] सन् १९४७ ई० [मूल्य, ढाई रुपया

प्रकाशक :—
भगवानदास केला
व्यवस्थापक,
भारतीय ग्रन्थमाला,
दारागंज, (प्रयाग)

मुद्रक :—
गयाप्रसाद तिवारी, बी० काम०,
नारायण प्रेस,
नारायण बिल्डिङ्गस,
प्रयाग।

यह पुस्तक

भारतीय ग्रन्थमाला के रचना-कार्य में

सहायक और शुभचिन्तक

बन्धुवर श्री० गौरीशंकर जी

सत्येन्द्र एम० ए०

को

सादर, सस्नेह समर्पित है।

—लेखक

भूमिका

भाई भगवानदास जी केला हिन्दी के उन इने-गिने लेखकों में से हैं, जिनकी सारी ज़िन्दगी हिन्दी की सेवा में बीत गई। दो दरजन से ऊपर उपयोगी और शिक्षाप्रद पुस्तकें लिखने का उन्हें श्रेय मिल चुका है। जिस निस्स्वार्थ भाव से ज़िन्दगी भर रूखी-सूखी खाकर, उन्होंने हिन्दी साहित्य की यह सेवा की है, उसमें शायद ही कोई दूसरा लेखक उनका मुक़ाबला कर सके। मुझे करीब-करीब एक पीढ़ी से उनके साथ परिचय का सौभाग्य प्राप्त है। उनका परिचय और उनका प्रेम मेरे इस जीवन की सब से अधिक मूल्यवान पंजियों में से है।

अपनी इस पुस्तक "साम्राज्य, और उनका पतन" के कई अध्यायों का मसौदा छपने से पहले उन्होंने मुझे दिखाया। कई विषयों पर काफ़ी बात-चीत हुई। यूँ तो जिन ग्यारह साम्राज्यों का थोड़ा-थोड़ा हाल उन्होंने इस छोटी-सी पुस्तक में दिया है, उनमें से किसी एक का पूरा इतिहास जानने के लिए भी आदमी को कई कई ज़बानें सीखनी पड़ें, पूरी ज़िन्दगी उस एक के इतिहास को जानने में ही ख़र्च हो जाय, और फिर भी बड़े-से-बड़े इतिहासज्ञों में भी कुछ-न-कुछ घटनाओं और विचारों के बारे में मतभेद रह ही जाता है। लेकिन जिस मेहनत, सच्चाई और निष्पक्षता के साथ केला जी ने इस पुस्तक की सामग्री

जमा की है, और जितनी गहराई और हमदर्दी के साथ अलग-अलग साम्राज्यों के उत्थान और पतन के कारणों की विवेचना की है, उसकी मैं तारीफ़ किये बिना नहीं रह सकता।

पुस्तक न किसी राजनैतिक दल का समर्थन करने के लिए लिखी गई है, और न किसी विशेष विचारों का प्रचार करने के लिए। इसका ढङ्ग शुद्ध वैज्ञानिक है, जिससे साम्राज्य-संस्था के विश्वासी और उसके विरोधी दोनों सबक सीख सकते हैं, और दोनों लाभ उठा सकते हैं। विद्यार्थियों के लिए यह पुस्तक बड़े ही काम की चीज़ है। हिन्दी साहित्य में यह एक बहु-मूल्य वृद्धि है। मेरी प्रार्थना है कि जो भी हिन्दी-प्रेमी इस विषय से दिलचस्पी रखते हों, वह इस पुस्तक को ज़रूर पढ़ें।

मैं केला जी का मश्कूर हूँ कि उन्होंने इस भूमिका के रूप में, मुझे इस पुस्तक के बारे में अपने विचार प्रकट करने का मौक़ा दिया।

५६ चक
इलाहाबाद

सुन्दरलाल

निवेदन

सन् १६२० ई० में पिछले योरपीय महायुद्ध के बाद मैंने प्रेम-महाविद्यालय, बृन्दावन के मुख-पत्र 'प्रेम' में, साम्राज्य का जीवन-मरण शीर्षक तीन लेख लिखे। इस विषय की स्वतन्त्र पुस्तक लिखनी सन् १६३० ई० में आरम्भ की गयी थी। बीच में कई बार काम रुका तो भी १९३६ ई० में पुस्तक पूरी कर ली गयी थी। पर कई वर्ष आर्थिक सुविधा न होने से यह छप न पाई। इस बीच में मित्रवर श्री० सत्येन्द्र जी ने इसे देखकर मुझे आवश्यक परामर्श किया। मेरे निवेदन करने पर, सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री० पंडित सुन्दरलाल जी ने बड़ी खुशी से यह पुस्तक सुनी और मुझे कई बातें सुझायां। इस पर पुस्तक का कुछ अंश दुबारा लिखा गया। ईरान, मिस्र और यूनान आदि कई देशों के आदमियों और स्थानों के नाम पहले उस रूप में लिखे गये थे, जैसे वे अंगरेजी में लिखे होने पर पढ़े जाते हैं। पीछे ये नाम इस प्रकार कर दिये गये, जैसे ये अपने अपने देश में उच्चारण किये जाते हैं; पाठकों की सुविधा के लिए आरम्भ में हरेक नाम का अंगरेजी उच्चारण भी साथ में दे दिया गया। पंडित सुन्दरलाल जी ने इस पुस्तक की भूमिका लिखने की भी कृपा की। आपका और श्री० सत्येन्द्र जी का मैं बहुत कृतज्ञ हूँ।

इस पुस्तक का पहला संस्करण सन् १६४० में छप पाया था। गवालियर राज्य से इसके लिए १००) का पुरस्कार मिला। और भी कई संस्थाओं द्वारा इसका खासा स्वागत हुआ। सन् १६४५ में इसका प्रथम संस्करण समाप्त हो गया था, पर कागज और प्रेस आदि की कठिनाई से इसके छपने का स्थगित होता रहा। अब जैसे तैसे इसकी व्यवस्था हो गई है। प्रथम संस्करण पर कई विद्वानों ने अच्छी गंभीर आलोचनाएँ की थीं, उनको ध्यान में रखते हुए आवश्यक सुधार और खुलासा कर दिया गया है।

बहुत से आदमी भोग-विलास, या व्यवसनों के कारण निर्बल हो जाते हैं, और अन्त में कोई रोग उनकी मृत्यु का निमित्त या बहाना

बन जाता है। इसी प्रकार मेरा विचार है कि चाहे साम्राज्यों की मृत्यु का अन्तिम कारण बाहरी हो (जैसे, दूसरों का आक्रमण), प्रायः उनका ह्रास पहले हो चुकता है। उनके विनाश का मुख्य कारण उनका नैतिक पतन होता है, और कभी-कभी शारीरिक या मानसिक पतन भी। इसकी बहुत-कुछ जिम्मेवरी उन पर ही होती है। इस तरह, वे कुछ हद तक आत्म-हत्या के दोषी कहे जा सकते हैं। संसार में असंख्य साम्राज्य होकर चल बसे हैं। मैं तो यहाँ केवल एक दर्जन पर ही विचार कर सका हूँ, और, वह भी संक्षेप में। आधुनिक, या अपने निकट के साम्राज्यों को तो मैंने लिया ही नहीं। पर, जिनका विचार किया गया है, वे भी उदाहरण के लिए कम नहीं हैं।

हम बड़े इतिहास-प्रेमी बनते हैं। हम खंडहरों का अध्ययन करते हैं, पुराने शिला-लेखों के मिटे हुए या अस्पष्ट अक्षरों का अर्थ निकालने के लिए खूब मगज़-पच्ची करते हैं; पर जो इतिहास हमारे सामने खुला पड़ा है, उसे पढ़ा-अनपढ़ा कर रहे हैं। हमारा मानसिक व्यायाम किस काम का, यदि हम इसका अपने जीवन सुधारने में उपयोग न करें! हमने विशाल आकाश-मंडल की जांच की, हमने अथाह समुद्रों की जाँच की, अब हम तनिक अपनी जाँच करें। हम कहाँ हैं? हमारी सभ्यता कहाँ है? हमारी नीति क्या है? हमारी संस्कृति क्या है? हम पूर्व पुरुषों का इतिहास पढ़ते हैं, उनके कार्यों और विचारों की आलोचना करते हैं। पर हमारे कार्य और विचार कैसे हैं! क्या हम इतिहास के सहारे अपने जीवन को सुन्दर और शानदार बनायेंगे?

विनीत

भगवानदास केला

विषय-सूची

अध्याय विषय पृष्ठ

पहला अध्याय

साम्राज्यों का निर्माण

"राजनीति, वेश्या की तरह, अनेक रूपवाली होती है।"

—*भर्तृहरि*

संसार के भिन्न-भिन्न स्थानों में बहुत से पुराने स्तूप, मीनार किले, महल या गुफ़ाएँ अथवा इनके खँडहर हैं। कहीं-कहीं कोई दीवार, बुर्जी, मन्दिर या मसजिद आदि का भाग है। ये सब अपनी मौन भाषा में इस बात की साक्षी दे रहे हैं कि उन स्थानों में कभी बड़े-बड़े विशाल भवन थे, और ये भवन उस समय की जनता को राज्यों या साम्राज्यों के वैभव का परिचय दिया करते थे। वे बड़े साम्राज्य अब कहाँ हैं, उनका ह्रास या पतन कैसे हुआ, और किसने किया? क्या वे स्वयं ही इसके लिए कुछ दोषी नहीं है? ऐसी-ऐसी बातों का इस पुस्तक में विचार करना है। पहले यह जान लें कि साम्राज्य किसे कहते हैं, उस का निर्माण कैसे होता है, और उनके कितने भेद होते हैं।

साम्राज्यों का प्रारम्भ—साम्राज्यों के पुराने स्वरूप और नीति में अब बहुत अन्तर हो गया है, इसका विचार पीछे

किया जायगा। साधारण तौर पर यह कहा जा सकता है कि साम्राज्य उस बड़े प्रदेश को कहा जाता है, जिसका एक भाग तो स्वाधीन हो, और दूसरा एक या अधिक भाग उसके अधीन हो; और जिसमें स्वाधीन प्रदेश का प्रधान शासक उसके अधीन भागों का सम्राट् या महाराजाधिराज आदि कहा जाता हो। संसार में सब से पहला साम्राज्य कहाँ और कब बना इसके बारे में लोगों के अलग-अलग विचार हैं। योरप और अमरीका के ज्यादहतर लेखक पुरानी सभ्यताओं को ईसामसीह से छः-सात हज़ार वर्ष ही पहले की मानते हैं। उनकी दृष्टि भूत काल में बहुत दूर तक नहीं जाती। हाँ, अब वैज्ञानिक अन्वेषणों और पुरातत्व सम्बन्धी खोज के कारण वे लाखों वर्ष पहले की भी बात सोचने लगे हैं। किन्तु भारतवर्ष पहले से ही अपनी सामाजिक या धार्मिक तथा राजनैतिक व्यवस्था का सम्बन्ध बहुत प्राचीन काल से, सृष्टि के आरम्भ से, जोड़ता आया है। यहाँ अनेक शास्त्रकारों ने अपने-अपने ढंग से स्वयम्भू मन से लेकर आधुनिक काल तक का थोड़ा बहुत सिलसिलेवार वर्णन किया है। इस देश का विस्तार ही यहाँ वालों के विशाल दृष्टिकोण का सूचक है। इतिहास में वह समय कितने महत्व का है, जब संसार के इतने बड़े हिस्से की कल्पना स्थूल रूप से की गई, और इसका एक नाम भारतवर्ष रखा गया।

भरत-खंड का विस्तार अति प्राचीन काल में कितना था, कितना भाग पहले स्थल था, और कहाँ समुद्र था, इस विषय में भूगर्भ वेत्ताओं में मतभेद हैं। पर इसमें सन्देह नहीं कि उनके हिसाब से भरत-खण्ड में छोटे-बड़े कितने ही राज्यों का समावेश होता था।

साम्राज्य-निर्माण चक्रवर्ती राज्य—साम्राज्य जैसी विशाल संस्था किसी एक या दो बातों से ही नहीं बनती, समय-समय पर देश कालानुसार भिन्न-भिन्न बातें उसके निर्माण में सहायक होती हैं। साम्राज्य निर्माण की सब से पुरानी चर्चा हमें भारतीय साहित्य में मिलती है। वेदों और शास्त्रों में अश्वमेध और राजसूय यज्ञ, तथा चक्रवर्ती राज्य का विस्तृत वर्णन है। यज्ञ करने वाला राजा यज्ञ से एक वर्ष पूर्व एक सुन्दर और बलवान घोड़ा छोड़ देता था। उसके कुछ सैनिक होते थे। घोड़ा चारों दिशाओं में जहाँ-तहाँ घूमता; यदि कोई इसे पकड़ लेता तो इसका आशय यह होता था कि वह यज्ञ करने वाले को चुनौती देता है; जब तक वह उसको न जीत ले, वह यज्ञ करने का अधिकारी नहीं। यदि कोई घोड़े को न पकड़े तो यह समझा जाता था कि कोई व्यक्ति यज्ञ करनेवाले की बराबरी का, या उससे अधिक शक्तिशाली होने का, दावा नहीं करता; सब उस की अधीनता स्वीकार करते हैं। इस प्रकार प्रतिद्वन्द्वियों को विजय करके, अथवा सब की अधीनता सूचित हो जाने पर, यज्ञ किया जाता था; उसमें सब अधीन राजा भाग लेते थे, और यज्ञ करनेवाले को उपहार या भेंट देते थे। यज्ञ समाप्त होने पर इसके करानेवाले को 'महाराजाधिराज' की उपाधि मिलती थी। इस पराक्रमी राजा को अपने कृत्य के लिए शास्त्रों का आधार प्राप्त था; उनमें लिखा है कि चातुर्मास (वर्षा ऋतु) के अन्त में शूरबीर राजा सेना ले जाकर अन्य देशों को विजय करें और राजसूय आदि यज्ञ करके चक्रवर्ती बने।

भारतीय पाठक इस चक्रवर्तित्व को देश की राजनैतिक शक्ति के संगठन के लिए, तथा अन्य राज्य वालों से रक्षा के लिए आवश्यक और अनिवार्य मान सकते हैं। परन्तु एक तटस्थ दर्शक के लिए यह सब क्या है ? यों तो प्रत्येक पक्ष के समर्थन में कुछ न कुछ तर्क या दलील उपस्थित की जा सकती है, परन्तु बाहरी आवरण को हटा कर देखिये, नग्न सत्य क्या है ? किसी राज्य पर, चाहे उसने आपका कुछ बिगाड़ा नहीं, आक्रमण कर देना, स्वयं बड़ा बनने के लिए दूसरों को अपने अधीन करना, उनसे थोड़ा-बहुत कर या भेंट लेना—यही तो चक्रवर्ती राजा बनने का कार्यक्रम है। और, अपने राज्य को बढ़ाना, तथा दूसरे राज्यों को अपने अधीन करना, यह साम्राज्य-निर्माण की ही तो भावना है।

साम्राज्य-निर्माण में धर्म-प्रचारकों का भाग—धर्म-प्रचारकों ने साम्राज्य-निर्माण में खासा योग दिया है। धर्मोपदेशक अपने राज्य या देश-बंधुओं की सहायता पाकर अन्य देशों में गये, और वहाँ क्रमशः लोगों के धार्मिक विचारों में परिवर्तन किया। धीरे-धीरे इन नये विचार वालों की संख्या बढ़ती गयी, यहाँ तक कि देश में नये धर्म के साथ इनके प्रचारक भी आदर और सम्मान की दृष्टि से देखे जाने लगे, और वहाँ के निवासियों पर सैनिक विजय न होते हुए भी मानसिक-विजय पूर्ण रूप से हो गयी। इसका यह परिणाम कहीं-कहीं यह हुआ कि अन्त में इस देश के आदमी धर्म-प्रचारकों के देश की शासन पद्धति भी पसन्द करने लगे, और उसे अपने यहाँ प्रच-

लित करने के लिए वहाँ के राजनीतिज्ञों का, अपने शासकों के रूप में भी अभिनन्दन करने लगे। कुछ ऐसे ही क्रम से प्राचीन काल में बौद्ध धर्म प्रचारकों ने लङ्का श्याम आदि को भारतवर्ष का उपनिवेश बनाया था।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि विदेशी मिशनरी या प्रचारकों के उद्योग से जहाँ कुछ आदमी नये धर्म को स्वीकार करने वाले हो जाते हैं, वहाँ उनके कुटिल प्रयत्नों से देश में धार्मिक या साम्प्रदायिक दलबन्दी भी हो जाती है, और नये साम्प्रदाय वालों का अपने देश-बन्धुओं से विरोध होने लगता है। विदेशी धर्म-प्रचारक तो यह चाहते ही रहते हैं कि देश में फूट और संघर्ष पैदा हो जाय। इस संघर्ष की वृद्धि का कारण बहुधा यह होता है कि पुराने धर्म वाले अपने इन बन्धुओं के प्रति सहिष्णुता का व्यवहार नहीं करते, वे इन्हें धर्म से गिरा हुआ और नास्तिक आदि समझ कर तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं; और, यह नया दल जोशीला तो होता ही है, साथ में विदेशियों का सहारा और उत्तेजना पाकर भी उद्दंड और अविनयी हो जाता है। बस, जहाँ एक बार इन दोनों दलों की आपस में ठनी कि धर्म-प्रचारकों ने नवीन विचार वालों का पक्ष लिया। ये अशान्ति के बढ़े-चढ़े या अत्युक्ति-पूर्ण संवाद भेज कर अपने देश वालों की, तथा अपने मतानुयायी अन्य देश वालों की, सहानुभूति प्राप्त कर लेते हैं, और सैनिक शक्ति का प्रदर्शन करा कर इन नये प्रदेशों पर कुछ-न-कुछ राजनैतिक अधिकार प्राप्त कर लेते हैं, और एक अंश में अपने साम्राज्य की नींव डाल देते

हैं। जैसा कि डाक्टर वी० शिवराम ने लिखा है, "केवल मिशन-रियों के ही कार्य से आस्ट्रेलिया, फिजी, दक्षिण और मध्य अफ्रीका, सीरालोयन, वर्मा और गायना आदि महत्वपूर्ण उपनिवेशों में ब्रिटिश साम्राज्य की जड़ जमी। इन स्थानों में व्यापारिक या राजनैतिक नियंत्रण होने से बहुत पहले मिशन-रियों के अड्डे बन गये थे।"

आवश्यकता-पूर्ति—बहुधा जिन देशों में जीवन-निर्वाह की सुविधाएँ नहीं होतीं, या जहाँ के निवासियों की आवश्यक-ताएँ इतना बढ़ जाती हैं कि वहाँ पूरी नहीं हो पातीं, उन देशों के आदमी बाहर निकल पड़ते हैं, तरह-तरह का मुसीबतें सह कर, नयी-नयी पृथ्वी की खोज करते हैं। जहाँ-कहीं अनुकूल या उपजाऊ भूमि पाते हैं, वहाँ बसने का प्रयत्न करते हैं। इसमें वहाँ के असली निवासियों से युद्ध ठनता है। यदि वे निर्बल होते हैं तो ये उन्हें जल्दी ही वश में कर लेते हैं, कुछ को मार-पीट कर शेष पर अपनी प्रभुता स्थापित करते हैं। और यदि, नये भू-भागों के आदमी बलवान होते हैं तो उनसे मित्रता का सम्बन्ध करते हैं, अथवा यदि आवश्यक जान पड़े तो प्रकट रूप से उसकी अधी-नता भी स्वीकार कर लेते हैं। पीछे ज्यों ज्यों उपयुक्त अवसर पाते हैं, ये अपनाा बल बढ़ाते रहते हैं, और कालान्तर में उसे अपना उपनिवेश बना डालने की फिकर में रहते हैं। पन्द्रहवीं सोलहवीं शताब्दी में हालैंड, फ्राँस, स्पेन और इंगलैंड आदि के निवासी संसार के विविध भागों में गये; जहाँ अनुकूलता मिली, वहाँ ही उन्होंने बसने या अपने उपनिवेश स्थापित करनेका प्रयत्न किया;

इसका मुख्य कारण उनका, अपनी तत्कालीन परिस्थिति से असन्तुष्ट होना, तथा उनकी भौतिक आवश्यकताओं का अपने देश में पूरा न हो सकना था।

व्यापार—व्यापार से भी साम्राज्य-निर्माण में बड़ी सहायता ली जाती है। साहसी आदमी आर्थिक लाभ के लिए, अनेक कष्ट उठा कर विदेशों में जाते हैं, वहाँ राजा-महाराजाओं से ही नहीं, साधारण सरदारों या दरबारियों के प्रति भी अनुनय-विनय और शिष्टा-चार दिखा कर, उन्हें चित्ताकर्षक वस्तुओं की भेंट देकर छोटी-छोटी व्यापारिक सुविधाएँ या एकाधिकार प्राप्त करते हैं। ये वहाँ के नाज़-नखरे उठाकर भी उनकी कृपा-दृष्टि बनाये रखने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार व्यापार के नाते अपने पाँव जमाकर, सैनिक तथा राजनैतिक सत्ता प्राप्त करने के वास्ते ये अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा करते हैं। जब कभी वहाँ के विविध अधिकारियों में मनोमालिन्य होता है, अथवा इन व्यापारियों के कूटनैतिक कौशल से फूट हो जाती है, तब इनकी बन आती है, और ये एक का पक्ष लेकर दूसरे पर विजय पाने का भरसक प्रयत्न करते हैं, और पीछे उसकी शक्ति का क्षय हो जाने पर, ये अपने सहयोगी को सहज ही अपने अधीन कर लेते हैं; इस प्रकार ये अपनी बढ़ी हुई शक्ति का, क्रमशः दूसरों को पराजित करने में, उपयोग करते हैं।

कभी-कभी ये विदेशी व्यापारी अपने व्यापार का विस्तार करके देश को आर्थिक दृष्टि से अपने अधीन करते जाते हैं। देशी व्यापारी मुंह ताकते रह जाते हैं, सब बाजार और मंडियाँ

इनके हाथ से निकल जाती हैं। यदि संयोग से वह देश विदेशी व्यापारियों की चालों को समझकर इनके चंगुल से निकलने की कोशिश करता है, तो ये अपने हितों की रक्षा की दुहाई देकर उससे युद्ध ठान देते हैं। इसमें इन्हें अपने मातृ-देश का सहारा मिलता है। विदेशी व्यापारियों का एक-मात्र लक्ष्य धन पैदा करना रहता है, और वे देश के निवासियों में मादक पदार्थ तथा विलासिता की वस्तुओं का प्रचार करने में संकोच नहीं करते। व्यापार की रक्षा के नाम पर तोप बन्दूक आदि युद्ध-सामग्री का प्रदर्शन ही नहीं, प्रत्यक्ष उपयोग किया जाता है। इस प्रकार व्यापार राज्य-विस्तार का, साम्राज्य-निर्माण एवं वृद्धि का साधन होता है। भारतवर्ष में ईस्ट इंडिया कम्पनी ने पहले पहल व्यापार के नाते ही अपने पैर जमाये थे; और, चीनमें पाश्चात्य राज्यों का क्रमशः प्रवेश इसी ढङ्ग से हुआ है।

व्यापार का साम्राज्य निर्माण में ऐसा महत्व है कि बहुत-से साम्राज्य-सूत्रधार उपजाऊ देशों को अपने शासनाधीन रखने का मुख्य लाभ यही मानते हैं, कि वहाँ उनका व्यापार सम्बन्धी प्रभुत्व रहे, व्यापार से होनेवाले लाभ के वे एक-मात्र अधिकारी हों, तथा कोई दूसरा उसमें भागीदार या प्रतिद्वन्दी न हो।

महाजनी — महाजनी अर्थात् रुपया उधार देनेसे भी साम्राज्य निर्माण का मार्ग प्रशस्त होता है। अमरीका के भूत-पूर्व राष्ट्रपति श्री० वुडरो विलसन के इस कथन में बहुत सच्चाई है कि 'पूँजी की चालें विजय की चालें हैं।' राज-तृष्णा वालों से जो देश कुछ उधार ले लेता है, उसे हमेशा उनसे दबना पड़ता है। वह उन्हें

व्यापार की ही नहीं, कालान्तर में पुलिस और फ़ौज रखने की भी, सुविधाएँ देने को वाध्य होता है। ऋण देने वाले उस समय की प्रतीक्षा करते रहते हैं, जब ऋण (और सूद) की रक़म काफी बढ़ जाय, और वे ज़मानत के रूप में उस देश का कोई हिस्सा ले सकें। वे समय-समय पर उसे ऐसे प्रलोभन देते रहते हैं कि सड़कें, नदी, रेल, तार टेलीफ़ोन आदि बनाने अथवा सुप्रबन्ध करने आदि के लिए अधिकाधिक रुपया उधार ले। इन कामों के लिए वे अपने भाई-बन्धुओं की सेवाएँ भी प्रदान करते हैं। यदि इसमें उन्हें सफलता मिल जाती है, तो एक बड़ी मंजिल तय हुई समझिए, आगे का मार्ग और सरल हो जाता है।

महाजन से एक बार बड़ी रकम, या कई बार छोटी-छोटी रक़में उधार लेने वाला मज़दूर या किसान, बहुधा चिरकाल के लिए उसका दासानुदास हो जाता है। कई बार ऐसा भी देखा जाता है, कि उस रुपये के केवल सूद को अदा करने के लिए ही वह अपना एक लड़का उसके यहाँ नौकर रख देता है। फिर, अनेक प्रयत्न करने पर भी उसे मुक्ति-पत्र नहीं मिलता। यह बात व्यक्तियों की है। और ऐसी ही बात बड़े पैमाने पर, देशों की है। इसके उदाहरणों की इतिहास में कमी नहीं। ईरान, चीन, मिश्र आदि में अंगरेजों का हस्तक्षेप इसी प्रकार हुआ। अभी हाल (सन् १९४० ई०) की बात है, इंगलैण्ड ने अपने कुछ द्वीप संयुक्त राज्य अमरीका के पास रहन रख कर उससे लड़ाई के लिए विध्वंसक जहाज आदि लिए हैं। इन टापुओं का प्रबन्ध

निर्धारित अवधि तक अमरीका के आधीन रहेगा।

सभ्यता—साम्राज्य-निर्माता अपना उद्देश्य पूरा करने के लिए सभ्यता-प्रचार का भी आसरा लेते हुए पाये जाते हैं। ये 'अवनत' या 'असभ्य' देशों में जाकर वहाँ के लोगों को उनकी रीति-भाँति या रहन-सहन आदि के दोष खूब बढ़ा-चढ़ा कर, परन्तु आकर्षक ढङ्ग से, दिखाते हैं, और उनके सामने अपने ऊँचे दर्जे के रहन-सहन का उदाहरण उपस्थित करते हैं, तथा उनमें ऐसी आवश्यकताओं की मांग बढ़ा देते हैं, जिनकी पूर्ति के लिए उन्हें इन विदेशियों पर निर्भर रहना पड़े। इस प्रकार ये अपना आर्थिक लाभ करते हैं। परन्तु इससे बढ़ कर उनका यह प्रयत्न होता है कि किसी प्रकार नवयुवक उनसे शिक्षा पाने लग जायँ। वे बहुत मनोरंजक और आकर्षक ढङ्ग से, नाम-मात्र के व्यय से अथवा निश्शुल्क ही नवयुवकों की शिक्षा की व्यवस्था करते हैं। भावी नागरिकों की शिक्षा को अपने हाथ में कर लेने से, वे अपने राज्य की नींव दृढ़ कर लेते हैं और उसे (गुप्त रूप से) स्थायी बनाने में सहायक होते हैं। इस बात को ध्यान में रखने से ही हम भारत-सरकार के सौ वर्ष पहले के क़ानूनी सलाहकार मेकाले के उन शब्दों का वास्तविक महत्त्व समझ सकते हैं जो उसने भारत में अंगरेजी शिक्षा प्रचलित करने का समर्थन करते हुए कहे थे—"हमें अपनी सारी शक्ति लगा कर ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि हम भारतवासियों की एक ऐसी श्रेणी तैयार कर सकें, जिसके आदमी हमारे, और हमारी लाखों प्रजा के बीच दुभाषिये का काम कर सकें; जो रक्त और

रंग में तो भारतीय ही रहें, परन्तु रुचि, विचार, भाषा और भावों में पूरे अंगरेज़ हों।" इस प्रकार किसी देश में रक्त और रंग में स्वदेशी, और, रुचि विचार, भाषा, और भावों में विदेशी आदमियों की संख्या बढ़ाना साम्राज्यवादी सभ्यता-प्रचारकों का खास काम होता है।

साम्राज्य-निर्माण के अन्य कारण—हमने ऊपर साम्राज्य निर्माण के कुछ कारणों का विचार किया है। इनके अतिरिक्त; अन्य कारण भी हो सकते हैं। कभी-कभी किसी राष्ट्र के प्रमुख व्यक्ति सोचते हैं, हम संसार में सब से श्रेष्ठ हैं, हमारा धर्म सब से उत्तम है, या हम सब से बलवान, ज्ञानवान और सभ्य हैं। हमारी प्रभुता इस जाति या राष्ट्र तक ही परिमित क्यों रहे? हमें तो दुनियां भर में अपनी सत्ता स्थापित करनी है।' ये अपनी सीमा को उलंघन करके क्रमशः दूसरी जाति पर अपने धर्म, बल, व्यवसाय, सभ्यता आदि की धाक जमाते हैं, और उसे थोड़ा बहुत अपने अधीन कर लेते हैं। यह साम्राज्य-निर्माण ही की तो भावना है।

कभी-कभी ऐसा होता है कि ऐसी बातें साम्राज्य-निर्माण में सहायक हो जाती हैं, जिनके विषय में पहले कोई ऐसा अनुमान नहीं करता। उदाहरणवत् योरप के कुछ राज्यों को धार्मिक असहिष्णुता से भी साम्राज्य बनाने में सहायता मिली है; हाँ, गौण रूप से। मध्यकाल में जिन लोगों को अपने विशेष प्रकार के, धार्मिक सुधार सम्बन्धी विचारों के कारण दूसरों के अत्याचार सहने पड़े, और वहाँ रहना कठिन हो गया, वे स्थल

या जल मार्ग से जिधर रास्ता मिला, चल निकले। इनका कहीं ठौर-ठिकाना न था, कोई लक्ष्य-स्थान न था। बहुतेरों की जीवन-लीला इधर-उधर भटकने में ही समाप्त हो गयी। पर कभी-कभी इनमें से कुछ ने आशातीत सफलता भी प्राप्त की। ऐसे ही कुछ अंगरेज़ों की कष्ट-सहिष्णुता और साहस के फलस्वरूप मध्य काल में अमरीका के भिन्न-भिन्न भागों तथा टापुओं में ब्रिटिश उपनिवेशों की स्थापना हुई।

साम्राज्य-निर्माण और जाति-श्रेष्ठता—बहुत-से आदमियों के विचार से जाति-श्रेष्ठता और साम्राज्य-निर्माण का घनिष्ट और अनिवार्य सम्बन्ध है। कुछ का कथन है कि जब कोई जाति बहुत उन्नति कर लेती है, तो वह अवश्य साम्राज्यवादी बन जाती है। दूसरों का मत है कि संसार की कुछ खास-खास जातियाँ श्रेष्ठ हैं और दूसरी सब जातियाँ नीची श्रेणी की हैं। श्रेष्ठ जातियाँ ही साम्राज्य निर्माण करती हैं; और जो जातियाँ साम्राज्य बनाती हैं, वे अवश्य ही उन्नत और श्रेष्ठ होती हैं। परन्तु यह बात इतिहास से सिद्ध नहीं होती। उदाहरण के लिए इङ्गलैंड, फ्रांस जर्मनी, इटली और जापान के साम्राज्यों की बात लीजिए। ये भिन्न-भिन्न जातियों के हैं। क्या ये सभी जातियाँ श्रेष्ठ हैं?

जापान की ही बात लीजिए। केवल सत्तर-पिछत्तर वर्ष हुए, वह पुरानी रूढ़ियों में फँसा हुआ था। सन् १८६५ ई० में योरोप की विविध शक्तियों ने उससे जबर्दस्ती संधि की। तब से उसने अपनी उन्नति की ओर ध्यान दिया। १९०५ में उसने रूस को हरा दिया। उसने अपनी सीमा में बन्द न रह कर बाहर

हाथ-पाँव फैलाना आरम्भ किया, और वह पूरा साम्राज्यवादी बन बैठा तो क्या इससे यह समझा जाय कि जापानी श्रेष्ठ जाति के हो गये। सन् १९४५ में उसके साम्राज्य को नष्ट कर दिया गया; क्या इस घटना से जापानी नीची श्रेणी के हो गये?

कुछ समय पूर्व तक योरप की जर्मन, फ्रांसीसी आदि जातियों को अपनी श्रेष्ठता का ऐसा अभिमान था कि काली पीली जातियों को नीची श्रेणी की समझ कर उनसे असहयोग-सा किया करती थीं। पर योरपीय महाभारत (सन् १९१४-१९ और सन् १९३९-४५) का संकट उनके सिर पर आया तो वे अपना सब अभिमान भूल गयीं। आपस में लड़ते हुए उन्होंने एशियाई जातियों की सहायता प्राप्त करने का भरसक प्रयत्न किया। अंगरेज और हिन्दुस्तानी परस्पर मिलकर इटली और जर्मनी से लड़े।

रूस पहले प्रबल साम्राज्यवादी था, अब साम्राज्य-निर्माण का विरोधी है, तो क्या अब श्रेष्ठता जाती रही, अथवा वह अब कम उन्नत है? उसकी उन्नति संसार को चकित कर रही है, सब उसके आर्थिक कार्य-क्रम के प्रयोगों और योजनाओं को बड़ी उत्सुकता से देख रहे हैं।

इन बातों से स्पष्ट है कि कोई जाति हमेशा साम्राज्यवादी अथवा अ-साम्राज्यवादी नहीं रहती, अतः जाति-श्रेष्ठता का सिद्धान्त ठीक नहीं है। संसार में सब जगह नैतिक बल ही विजयी नहीं होता, शारीरिक बल का भी यथेष्ट महत्व है। बहुधा असभ्य जातियों ने अपने शरीर-बल से, उच्च समझी

जानी वाली जातियों पर प्रभुत्व स्थापित किया है। हाँ, आज-कल भौतिक विज्ञान की उन्नति का युग है, जो जाति इसमें अग्रसर होगी उसे ही साम्राज्य की स्थापना या विस्तार में अधिक सफलता मिलने की आशा है। परन्तु भौतिक विज्ञान की उन्नति ही, जातीय श्रेष्ठता की परिचायक नहीं हैं; यह तो उन्नति की बहुत नीचे की मंजिल है, और जो जातियाँ इसके साथ ही नैतिक उन्नति नहीं करती, उनका उच्चासन अस्थिर और डाँवाडोल है।

साम्राज्य-निर्माण और शासन-पद्धति—कुछ लोगों का विचार है कि एकतंत्र शासन-पद्धति वाले राज्य ही साम्राज्य बनाया करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इतिहास में कुछ समय पहले तक राजा बादशाह ही विजय करने वाले हुआ करते थे। परन्तु वह सैनिक साम्राज्यवाद की बात रही, अब तो राज्य अपने धन के द्वारा अन्य देशों के आर्थिक और राजनैतिक जीवन को नियंत्रित करने लगे हैं; ऐसी दशा में उनका एकतंत्रीय होना आवश्यक नहीं है। अमरीका अपने प्रजातंत्र-शासन के लिए प्रसिद्ध है, पर वह अपने पूँजीपतियों, धनी बैंकों के सहारे प्रथम श्रेणी के (आर्थिक) साम्राज्यवादियों में गिना जा सकता है। यही बात वर्तमान महासमर से पहले के फ्रांस के सम्बन्ध में कही जा सकती है। उसकी प्रजातंत्र सरकार कुछ थोड़े से पूँजीपतियों और धनवान राजनीतिज्ञों के हाथ में थी; और उसकी साम्राज्यवाद की भावना अन्य साम्राज्यवादियों से किसी प्रकार कम न थी।

इससे स्पष्ट है कि कोई राज्य अपने यहाँ प्रजातंत्र शासन रखते हुए भी साम्राज्यवादी हो सकता है।

साम्राज्य-निर्माण और युद्ध—साम्राज्य-निर्माण क्या है? कुछ अपवादों को छोड़ कर दूसरे देशों, जातियों या राज्यों पर अपनी धाक जमाना, हकूमत कायम करना—यही साधारणतया साम्राज्य-निर्माण की भावना है। हम तुमसे बड़े हैं, तुम हमारा बड़प्पन स्वीकार करो, नहीं तो आजाओ मैदान में! इस बात को कोई नर्मी से कहता है, कोई सख्ती से। ढङ्ग अलग-अलग हैं, पर बात वही है। साम्राज्य-निर्माण का अर्थ थोड़े-बहुत समय में युद्ध, या युद्ध की तैयारी होता है। हम किसी-न-किसी रूप में दूसरों को विजय करना चाहते हैं। और, यह विजय का नशा भी कैसा होता है! इसके नशे में, विजय प्राप्ति की आकांक्षा में आदमी निर्दोष, निहत्थे, बच्चों और बूढ़ों का स्त्रियों और रोगियों, साधू सन्तों तथा परोपकारी आदमियों तक का, संहार करने में तनिक भी संकोच नहीं करते। युद्ध का परिणाम क्या होता है, इसका वे विचार नहीं करते। विजय का नग्न और वास्तविक रूप क्या है! सनाथों का अनाथ होना, सधवाओं का विधवा होना, आनन्द-मंगल की जगह शोक और विलाप, धन धान्य से पूर्ण भूमि की जगह वीरान और श्मशान का दृश्य! प्रायः ऐसे ही परिणाम वाले युद्धों के आधार पर साम्राज्य बनते हैं, और उनके संस्थापक अपनी कृति का अभिमान किया करते हैं!

———

दूसरा अध्याय

साम्राज्यों के भेद

साम्राज्य किन-किन कारणों से बनते हैं, इस बात का विचार पिछले अध्याय में किया जा चुका। अब हमें यह देखना है कि साम्राज्य कितनी तरह के होते हैं, और भिन्न-भिन्न प्रकार के साम्राज्यों में क्या-क्या विशेषताएँ होती हैं। प्राय: एक तरह के साम्राज्य के कुछ लक्षण दूसरी तरह के साम्राज्य में भी पाये जाते हैं। इसलिए साम्राज्यों का कोई वर्गीकरण विशुद्ध नहीं होता। प्रधान गुण को लक्ष्य में रख कर, स्थूल रूप से उनके निम्नलिखित भेद किये जा सकते हैं :—

१—धार्मिक साम्राज्य,

२—सैनिक साम्राज्य, और

३—आर्थिक साम्राज्य।

वर्तमान साम्राज्यों का प्राचीन साम्राज्यों से महान् अन्तर हो गया। अब साधारणतया केवल 'साम्राज्यवाद' कहने से उसकी आधुनिक (आर्थिक) भावना की ही कल्पना की जाती है। यह साम्राज्यवाद विशेषता पिछली शताब्दी के अन्तिम चरण का ही प्रसाद माना जाता है। अस्तु, साम्राज्यों का एक वर्गी-करण यह भी हो सकता है :—

(क) प्राचीन साम्राज्य, और

(ख) आधुनिक साम्राज्य

अब इन भेदों पर क्रमशः विचार किया जाता है

धार्मिक-साम्राज्य—धार्मिक साम्राज्यों से कुछ पाठकों को ऐसे साम्राज्यों की कल्पना हो सकती है, जिनमें सैनिक बल को तिलाँजलि दे दी गयी, और सारा विधान धर्म के सिद्धान्तों पर ठहराया गया। उदाहरण के लिए अशोक के साम्राज्य की बात है। सम्राट् अपने राज्य-विस्तार के लिए दूर-दूर धर्म-प्रचारक भेजता है, और अधिक-से-अधिक भू-भाग को अपने अधीन करने की इतनी भावना नहीं रखता, जितनी इस बात की, कि बौद्ध धर्म की ध्वजा सर्व फहराने लगे। उसकी यह कामना नहीं है कि अधीन प्रजा उसके वैभव को बढ़ाये, या उसे धन प्रदान करे। सम्राट् स्वयं बहुत सादगी का जीवन बिताता है पर चाहता है कि बौद्ध धर्म यथा-सम्भव संसार भर में फैल जाय। परन्तु जिन-जिन देशों में एक धर्म का प्रचार होता है, उन सब देशों को एक साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं माना जाता चीन जापान में बौद्धधर्म फैल जाने से वे अशोक के साम्राज्य के अंग नहीं हुए। साम्राज्य का क्षेत्र वहाँ तक ही माना जाता है. जहाँ तक सम्राट् का राजनैतिक अधिकार हो। इस दृष्टि से अशोक या उसके उत्तराधिकारियों के साम्राज्य को वास्तव में धार्मिक साम्राज्य नहीं कह सकते।

धार्मिक साम्राज्य का अच्छा उदाहरण हमें खलीफा के नाम पर विविध मुसलिम शासकों द्वारा की जाने वाली राज्य-व्यवस्था

में मिलता है। मोहम्मद साहब के उत्तराधिकारी धर्माध्यक्षों को खलीफा कहा जाता था। उन्हें धार्मिक अधिकारों के साथ राजनैतिक प्रभुता भी प्राप्त थी। आठवीं सदी में, अरब वालों द्वारा जीते हुए सब देश—योरप में स्पेन से लेकर, भारत में सिन्ध तक—एक ही शासन में, एक ही खलीफा के अधीन थे। खिलाफत के सम्बन्ध में, कुछ बातें आगे सेरेसन और तुर्क साम्राज्य नाम के अध्याय में कही जायँगी। खलीफा के शासन-अधिकारों का कुछ अनुमान इस बात से हो सकता है कि भारतवर्ष में मुगलों से पहले मुसलिम शासक अपने आप को खलीफा के अधीन मानते और उससे विविध आज्ञाएँ प्राप्त करते थे। पश्चिमी एशिया और उत्तरी अफ्रीका के मुसलिम शासकों पर तुर्की के खलीफा का प्रभाव पिछले योरपीय महायुद्ध तक रहा है। सन् १९२२ में, मुस्तफा कमालपाशा के समय में, तुर्कों की राष्ट्रीय असेम्बली ने खिलाफत और सलतनत को अलग-अलग कर दिया। पीछे खलीफा का पद ही तोड़ दिया गया।

धार्मिक साम्राज्य का एक और उदाहरण लें। आठवीं सदी के अन्त से खास कर १५५८ ई० तक पश्चिमी योरप में भी धार्मिक साम्राज्य का बोलबाला था। भिन्न-भिन्न राज्य रोम के प्रधान पोप की आज्ञाओं के चेरे थे। किसी का यह साहस न था कि अपने धर्म-पिता पोप की आज्ञा का उलंघन करे। पोप ने स्पेन और पुर्तगाल में सारे ईसाई साम्राज्य का बँटवारा कर दिया। वह साम्राज्य 'होली

रोमन ऐम्पायर (पवित्र रोमन साम्राज्य) कहलाता था। इसके बारे में विशेष आगे लिखा जायगा।

सैनिक साम्राज्य—सैनिक साम्राज्यों के संस्थापक भी अपने कार्य के लिए थोड़ी बहुत धर्म की दुहाई देते हैं, परन्तु उनमें महात्वाकाँक्षाएँ होती हैं, भुजाओं में बल होता है, उनका उत्साह उन्हें शांति से बैठने नहीं देता। लड़ने भिड़ने में मरने-मारने में उन्हें आनन्द आता है। उनके व्यक्तित्व में ऐसा आकर्षण होता है, जो अन्य उत्साही व्यक्तियोंको उनका अनुयायी बन उनकी विजय-पताका दूर-दूर तक ले जाने के लिए प्रेरित करता है। अवश्य ही सेनापति अपने सैनिकों को वेतन अथवा लूट-मार का प्रलोभन देते हैं, पर अनेक आदमी अपना पराक्रम दिखाने का अवसर पाने के लिये भी युद्धों में भाग लेते हैं।

यद्यपि भारतवर्ष के अति प्राचीन चक्रवर्ती राज्यों को भी अपने बाहु-बल या सैनिक शक्ति का बड़ा भरोसा रहता था, उनका आधार धार्मिक होता था। सैनिक सम्राटों में कुछ प्रसिद्ध उदाहरण सिकन्दर, सीजर, और नेपोलियन हैं। ये चाहते थे कि सर्वत्र हमारी धाक हो, हमारी शक्ति को सब माना करें, हम दूर-दूर तक जनता के स्वामी हों; सेनापति, सरदार, राजा और नरेश हमारी आज्ञा में चलने वाले हों। चंगेजखाँ का साम्राज्य इन साम्राज्यों से भी कहीं अधिक सैनिक साम्राज्य था।

इन साम्राज्यों का आधार सैनिकता होती है। जब तक इनमें विशाल शूरवीर सेना और सुयोग्य संचालक रहते हैं, और

प्रधान नायक बलवान, प्रतिभाशाली और संगठन-कुशल होता है, इन साम्राज्यों का अस्तित्व बना रहता है। इस बात के अभाव में इन का अन्त हुआ ही समझो। सैनिक साम्राज्यवाद पर जब धर्म या सभ्यता आदि का आवरण नहीं होता तब यह शीघ्र पहिचान लिया जाता है; यही नहीं, इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया भी जल्दी होने लगती है।

आर्थिक साम्राज्य—मनुष्यों के बहुत-से कार्यों या आन्दोलनों के मूल में धन तृष्णा होती है; हाँ, बहुधा वे इसे धार्मिक आदि रूप देखकर दूसरों में अपनी निष्काम भावना की घोषणा किया करते हैं। भौतिक विचारों की प्रधानता के समय, अनेक जातियाँ दूसरों पर राजनैतिक प्रभुत्व की अपेक्षा आर्थिक प्रभुत्व रखने की अधिक इच्छुक होती है; अथवा. यह भी कहा जा सकता है कि उनकी राजनैतिक सत्ता का मुख्य उद्देश्य यह रहता है कि इसके द्वारा उन्हें अधीन देश में व्यापार करने की विशेष सुविधाएँ मिलें, वे वहाँ के निवासियों में अपना तैयार माल खूब-खपा सकें एवं अपने अन्य प्रतिद्वंदियों को ऐसा करने से रोकने के लिए नाना प्रकार के क़ानून-क़ायदे बना सकें।

अठारहवीं सदी के पिछले हिस्से में, योरप में औद्योगिक क्रान्ति हुई, विशेषतया तब से ही आर्थिक साम्राज्यवाद का प्रादुर्भाव हुआ। इस साम्राज्यवाद की भावना उन्नीसवीं शताब्दी में विकसित हुई। यह अधिकतर उन राज्यों में होती है. जो औद्योगिक दृष्टि से उन्नत हों। बात यह है कि उन्हें अपने उद्योग-धंधों के लिए कच्चे माल की ज़रूरत होती है, तथा अपने तैयार माल

को बेचने के लिए पिछड़े हुए तथा कृषि-प्रधान देशों के बाजारों पर अधिकार जमाने की चिन्ता रहती है। पहले इन साम्राज्यों को ज्यादहतर रुई बेचने, और कपड़ा मोल लेनेवालों की खोज रहती थी। पीछे पूँजीपति देशों को कपड़े से बढ़ कर लोहे और फौलाद की ज़रूरत होने लगी। इनसे ये रेल, जहाज़ और नाना प्रकार के यन्त्र आदि बनाते हैं। इन्हें कोयले, मिट्टी के तेल, रबड़, नील आदि की भी ज़रूरत होती है। जहाँ ये वस्तुएँ मिल सकती हैं, उन देशों पर ये अधिकार जमा लेना चाहते हैं।

आर्थिक साम्राज्य के सूत्र, व्यापारियों के अतिरिक्त, पूँजीपतियों महाजनों या बैंकों के हाथ में होते हैं। समृद्धिशाली देशों में थोड़े बहुत समय पीछे ऐसी अवस्था आ जाती है, जब इनके पूँजीपतियों को विदेशों में धन लगाना अधिक लाभदायक रहता है। विदेशों में धन लगा कर, ये वहाँ क्रमशः अधिकाधिक सुविधाएँ प्राप्त करते हैं। इनका अधिकार बढ़ता जाता है, और साम्राज्य-विस्तार होता जाता है।

अस्तु, आर्थिक साम्राज्यवाद की मार या चोट सैनिक साम्राज्य की भाँति प्रत्यक्ष नहीं होती, वह गुप्त होती है, विजित होनेवाली जातियों को शीघ्र उसका अनुभव नहीं होता; बहुधा जब उन्हें उसके फल की कटुता मालूम होती है, तो मर्ज़ ला-इलाज हो चुकता है।

ऊपर हमने साम्राज्यों के एक वर्गीकरण के अनुसार विचार किया। अब दूसरी दृष्टि से विचार करें। पहले कहा गया है कि प्राचीन और अर्वाचीन साम्राज्यों में महान अन्तर हो गया है।

यह भेद क्या है ?

प्राचीन और आधुनिक साम्राज्यों के भेद—प्राचीन काल में आजकल, की भाँति जाने-आने तथा समाचार भेजने आदि के विविध वैज्ञानिक साधन न रहने के कारण प्रायः प्राचीन साम्राज्य अपेक्षाकृत छोटे होते थे, तथा वे अधिकतर स्थल भाग पर ही होते थे। उनके भिन्न-भिन्न भाग खुश्की में एक दूसरे से मिले हुए रहते थे; अथवा, उनके बीच में नदी या सागर का फासला थोड़ा-सा ही होता था। वे केन्द्रीय स्थान से क्रमशः आगे बढ़ते थे, और अपनी सीमा से मिले हुए पड़ोसी राज्य को पराजित करने के बाद ही आगे के भू-भागों को जीतने का विचार करते थे; बीच में किसी स्वतन्त्र राज्य का या अन्य साम्राज्य के अधीन भाग का रहना उन दिनों सुविधा जनक न था। अब यह बात नहीं रही। आधुनिक साम्राज्यों के भिन्न-भिन्न भाग या टापू बहुधा एक-दूसरे से बहुत दूर भी होते हैं। उनके बीच में बड़े-बड़े समुद्र होते हैं, परन्तु वैज्ञानिक साधनों के कारण, अब ये समुद्र साम्राज्यों के विविध भागों को पृथक्-पृथक् करने वाले न समझे जाकर, एक तरह से उन्हें मिलानेवाले ही माने जाते हैं।

प्राचीन और नवीन साम्राज्य नीति—प्राचीन भारतीयों की साम्राज्य सम्बन्धी कल्पना तथा नीति यह थी कि किसी विजित राज्य की राष्ट्रीयता नष्ट न की जाय, उसके आन्तरिक शासन-प्रबन्ध में कुछ हस्तक्षेप न किया जाय, जहाँ तक सम्भव हो, विजित राज्य के राज-परिवार को पदच्युत न

कर उसी के किसी सुयोग्य व्यक्ति को उत्तराधिकारी बनाया जाय; हाँ, यह व्यक्ति ऐसा हो जो सम्राट् की प्रभुता को मानता हो, सम्राट् द्वारा किये जानेवाले सार्वजनिक उत्सव या यज्ञ आदि में उपस्थित होना तथा अपनी हैसियत के अनुसार अच्छी भेंट देना स्वीकार करता हो। इस प्रकार साम्राज्य में अनेक राजाओं को राजनैतिक स्वाधीनता प्राप्त होती थी, सब अपने-अपने क्षेत्र में अपना कायदा- कानून और शासन-नीति प्रचलित करते थे। इनमें जो प्रबल तथा प्रमुख होता था, वह सम्राट् या महाराजाधिराज की पदवी ग्रहण करता था। इस पद को धारण करने से पूर्व, उसे राजसूय यज्ञ करना होता था। इस यज्ञ के लिए उसके मित्र तथा 'अधीन' (भेंट देनेवाले) राजा-गण अपनी सम्मति देते थे। इस तरह, एक प्रकार के सम्राट् का चुनाव होता था, और जिसे अधिक राजा महाराजा बलवान और प्रतापी समझते, वही इस पद को ग्रहण करने का अधिकारी माना जाता था। सम्राट् का प्रत्यक्ष शासन केवल अपने अधिकृत या पैतृक राज्य पर होता था। अन्य भागों में अन्य स्वतन्त्र राजा होते थे, सबके अपने-अपने राष्ट्रीय राज्य थे। साम्राज्य भर में एक ही स्वतन्त्र शासक हो, और अन्य सब शासक उसकी अधीनता में राज्य-कार्य करें, यह बात उस समय न थी। यह तो बहुत पीछे के मध्यकाल या आधुनिक काल की भावना है।

फिर, प्राचीन काल के ढंग सरल थे। लूट-मार करनी हुई तो खुल्लमखुल्ला की जाती थी। संहार-कार्य भी प्रत्यक्ष रूप से

होता था। कहीं-कहीं विजित देश के कुछ आदमी दास या गुलाम भी बनाये जाते थे। कहीं-कहीं देव-मंदिर तोड़े जाने के भी उदाहरण मिलते हैं। ये कार्य प्रकट रूप से होने के कारण, अनेक दशाओं में इनका विरोध भी डट कर होता था। अब बात कुछ और है। कूट नीति या चालबाजी का प्रयोग अधिक है। अब लोगों को गुलाम बनाने या कत्ल करने की नीति कम बर्ती जाती है, अब तो समस्त विजित जनता को अपने अधीन करने की चेष्टा की जाती है। उनकी रक्षा का भार विजेता अपनी जाति या देश के आदमियों की सेना को सौंपता है, या ऐसी सेना को सौंपता है, जिसका सूत्र-संचालन विजेता के आदमी करते हैं। विजेता वहाँ के आदमियों की शिक्षा, साहित्य और व्यापारादि सभी विषयों पर अपना प्रभुत्व जमा लेता है, और उन्हें मानसिक, नैतिक तथा आर्थिक सभी प्रकार से परावलम्बी बना डालता है। मज़ा यह, कि प्रत्येक कार्य में यह सूचित किया जाता है कि यह विजित देश के हित और उन्नति के लिए है। विजेता कहता है, परमात्मा ने हमें कैसा विकट काम सौंपा है। हम इसे भरसक पूरा कर रहे हैं, और, इस भार से जल्दी ही मुक्त होना चाहते हैं।' निस्सन्देह बलवान सदैव दूसरों की कृतज्ञता के अधिकारी होते हैं।

प्राचीन सम्राट्, साम्राज्य के अधीन भागों की भीतरी व्यवस्था में विशेष हस्तक्षेप नहीं करते थे, अतः उन्हें उनके शासन के लिए सेना की बहुत आवश्यकता नहीं होती थी। अब

तो अधीन भागों की राजनीति पर पूरा नियन्त्रण रखा जाता है। इसलिये बहुत सेना रखनी पड़ती है। यदि सेना न रहे तो कितने ही अधीन भाग स्वतन्त्र होने, कर न देने, और साम्राज्य का बन्धन तोड़ने के लिए प्रयत्न-शील हो जायँ। हाँ, साम्राज्यों के स्वाधीन अंगों में से अब भी अनेक ऐसे होते हैं, जो बिना किसी दबाव के, स्वेच्छा से साम्राज्य के अन्दर बने रहना, और उससे विविध प्रकार का सम्बन्ध बनाये रखना चाहते हैं।

आज कल संसार में प्रायः एक ही समय में कई-कई साम्राज्यों का दौर-दौरा रहता है। इनकी समय-समय पर संधियाँ होती हैं, और टूटती हैं। प्रायः इनके गुट बन जाते हैं, कुछ साम्राज्य एक ओर हो जाते हैं, कुछ दूसरी ओर। इन साम्राज्यों को एक-दूसरे साम्राज्य से आक्रमण का भय लगा रहता है। फल-स्वरूप ये शान्ति और निशस्त्रीकरण की बात करते हुए भी विकराल सेनाएँ रखते हैं, और उन्हें बढ़ाते रहते हैं। प्रत्येक साम्राज्य संहार-कार्य के लिए विज्ञान का अधिकतम उपयोग (या दुरुपयोग ?) करता है, सर्वत्र भय और आशंका का राज्य रहता है। यह है, साम्राज्यों की वृद्धि और आधुनिकता का परिणाम !

अस्तु, साम्राज्यों के अनेक भेद किये जा सकते हैं। पर साम्राज्य का रूप कुछ भी हो, उसका प्रभाव न्यूनाधिक वही होता है। कोई धर्म के नाम से कोई सैनिक शक्ति से, और कोई व्यापार-चक्र चलाकर करता वही है, जो 'शोषण' कहलाता है।

———

तीसरा अध्याय

काल-चक्र

काल की आज्ञा में कैसे-कैसे ज़ोरावर चले ;
क्या मजाल उस हुक्म की कोई अदूली कर सके !
राव चले, राना चले, धनवान और निर्धन चले ;
कौन स्थिर रह सके, जब काल का चक्कर चले ॥

मेहनती कसे हुए कठोर जीवन में रुचि रखने वाली जातियों के हाथ राज्यों और साम्राज्यों की स्थापना, और उनके आलसी, विलासी तथा नाजुक वंशजों के हाथ उनका नाश—सभी देशों के इतिहास का इतना ही निचोड़ है ! *—किशोरलाल मशरूवाला*

ओफ ! इस संसार से कैसे बड़े-बड़े साम्राज्यों का लोप हो गया। सृष्टि का इतिहास एक विचित्र रङ्ग-मंच की कथा है। नाटक में नये-नये पात्र आते हैं, और कुछ देर दर्शकों का मन मुग्ध करके चले जाते हैं।

जन्म, यौवन, रोग, बुढ़ापा और मृत्यु—संसार में असंख्य प्राणी नित्य पैदा होते हैं, सब अपनी-अपनी लीला करते हैं। चार दिन की चांदनी दिखाकर वे सदाकेलिए अंधकार में विलीन हो जाते हैं। जन्म होता है, जवानी आती है, बुढ़ापा आता है, अन्त में सब प्राणियों की गति मृत्यु में होती है। प्रत्येक व्यक्ति समय-समय पर थोड़ा-बहुत रोगी होता है। कुछ

आदमी तो बहुत-से रोगों से भी सहज ही पार हो जाते हैं। पर किसी को कोई साधारण रोग ही बहुत बुरी तरह घेर लेता है, यहाँ तक कि यदि वह रोग उसकी मृत्यु का कारण नहीं होता तो उसे बहुत समय के लिए निस्तेज और कमज़ोर कर डालता है। प्रायः यह माना जाता है कि यदि कोई व्यक्ति स्वस्थ माता पिता की सन्तान है, और स्वयं भी स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमों का यथेष्ट पालन करता है तो वह सौ वर्ष अथवा इससे अधिक समय तक जीवित रह सकता है। इसके विपरीत दशा में, उस की आयु बहुत कम होती है, यहाँ तक पहले दिन मृत्यु हो जाती है। यही क्यों; कितने ही प्राणी गर्भावस्था को ही कठिनता से पार कर पाते हैं। कभी-कभी किसी आकस्मिक दुर्घटना के कारण अकाल मृत्यु भी होती है, पर बहुत कम।

जो बातें व्यक्तियों के विषय में चरितार्थ होती हैं, वे संस्थाओं, राज्यों, तथा साम्राज्यों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती हैं। जो गुण दुर्गुण एक बूँद में हैं, वे ही व्यापक रूप से अथाह समुद्र में हैं।

साम्राज्य-नाटक के पाँच अंक—साम्राज्यों के उत्थान पतन के जितने नाटक हुए हैं, उनमें किसी न किसी रूप में ये पाँच अंक देखने में आये हैं—

(१) कोई राष्ट्र अपने हृदय में यकायक जीवन और उत्साह का श्रोत बहता हुआ अनुभव करता है। बहुधा इस असाधारण उत्साह का स्रोत शासक या कोई प्रतिभाशाली नेता होता है। वह देश भक्ति की भावना बढ़ाकर अपनी प्रजा या अनुयाइयों में

नयी आशा पैदा करता है। आरम्भ में शासन सुधार या समाजोन्नति आदि अच्छे कार्य भी देखने में आते हैं।

(२) शक्ति पाकर जनता में धन की तृष्णा बढ़ती है, वह नेता से नया चमत्कार दिखाने की आशा रखने की आशा रखता है। महत्वाकाँक्षी शासन या नेता जनता का ध्यान पड़ोसी राष्ट्रों की ओर दिलाता है। 'उनकी दौलत तुम्हारी हो सकती है, बस तुम्हारे संगठित होकर उन पर टूट पड़ने की देर है। यह कह कर नयी सेना भरती की जाती है।

(३) सैनिक भरती हो गए; जनता को अपनी शक्ति का अनुभव होने लगा। कमजोर राष्ट्रों पर हमला करके या हमले का भय दिखाकर उन्हें हड़प कर लिया जाता है। दूसरे राष्ट्र इस बढ़ते हुए संकट का सामना करने के लिए संघ बनाते हैं; सैनिक शक्ति संचय करते हैं।

(४) महत्वाकाँक्षी राष्ट्र के नेता को नये राष्ट्र संघ पर क्रोध आता है, और किसी न किसी बहाने उससे भिड़ पड़ता है। जनता उसे इस के लिए उकसाती रहती है। उसने सेना के लिए करों का भार सहा, अनुशासन का कष्ट उठाया, वह इस का फल चाहती है। अगर सेना कम कर दी जाय तो देश के भीतर विद्रोह या बाहरी आक्रमण का डर रहता है। नेता अपनी सेना को कूच की आज्ञा दे देता है।

(५) लड़ाई में विजय का निश्चय नहीं रहता। कभी जीत होती है तो कभी हार भी हो सकती है। सफलता किसी की दासी नहीं है। मौका आने पर, जीतने वाले के खिलाफ वही

दौर शुरू हो जाता है, जो इसने दूसरों के खिलाफ किया था।

सब साम्राज्यों की यही कहानी है। आज की दुनिया में इतिहास तेजी से डग बढ़ता हुआ नज़र आता है। पुराने ज़माने में साम्राज्यों का उत्थान और पतन सदियों में होता था, अब यह क्रिया कुछ वर्षों में ही पूरी हो जाती है।*

हम मृत्यु को भूले ही रहते हैं—जन्म, बाल्यावस्था, यौवन, वृद्धावस्था, रोग और अन्त में मृत्यु जैसे व्यक्तियों में होती है, वैसे ही साम्राज्यों में होती है। आह! यह इतनी सीधी बात आदमियों की समझ में नहीं आती। साधारण लोगों की क्या कहें, साम्राज्य-सूत्रधारों को भी इसका ध्यान नहीं रहता, वे भी इसे भूल जाते हैं। यह कुछ स्वाभाविक भी है। हम नित्य व्यवहार में देखते हैं कि माता पिता अपनी सन्तान के जन्म की बड़ी खुशी मनाते हैं, अनेक उनकी वर्ष-गांठ का उत्सव मानते हैं परन्तु कभी उनकी मृत्यु की क्या, बीमारी या बुढ़ापे की भी बात नहीं सोचते। यही नहीं, यदि कोई दूसरा आदमी ऐसी बात उठाए तो वे बहुत बुरा मानते हैं। इसके अतिरिक्त, बड़े होने पर यौवन मद में, अनेक व्यक्ति अपनी मृत्यु की बात भूल जाते हैं। वे नित्य देखते हैं कि हमारे बड़े बूढ़े मर खप गये हैं। अनेक भाई-बन्धु प्रति दिन हमारी आँखों के सामने मरते हैं, और हम उनके क्रिया-कर्म में भाग लेते हैं, फिर भी हम ऐसे माया-जाल में फँसे रहते हैं, स्वार्थ, व्यसन, धन बटोरने आदि में लगे रहते हैं मानों हमारी कभी मृत्यु नहीं होगी, संसार में हम अमर

*'नवयुग' के एक लेख के आधार पर

होकर आये हैं। इससे बढ़कर क्या आश्चर्य है!

कुछ ऐसी ही बात साम्राज्यों की है। उनकी बाल्यावस्था में उनके सूत्रधार उनकी खूब सार-संभाल रखते हैं, उनके नन्हें पौदे को अपने त्याग और बलिदान रूपी जल से सींचते हैं, आँधी और वर्षा से उसकी यथा-शक्ति रक्षा करते हैं। पर विविध झंझटों और मुसीबतों को पार करके जब कोई साम्राज्य जवानी हासिल कर लेता है तो वह भौतिक सामान के संग्रह में लग जाता है, न्याय-अन्याय का विचार छोड़ देता है। अहङ्कार, अत्याचार, लोभ और व्यसन उसके नित्य-कर्म बन जाते हैं। वह धर्म का आचारण छोड़ देता है। अपने धन वैभव के नशे में वह भूल जाता है इस बात को कि उसे एक दिन मरना अवश्य है। यह मृत्यु जन्म से ही उसके साथ लगी हुई है। उसके पूर्ववर्ती अनेक साम्राज्यों का परलोकवास हो चुका, उनकी समाधियाँ और खँडहर शेष हैं, अथवा कुछ दशाओं में उनका भी लोप हो गया है। उसके सहयोगी उसके सामने मरते हैं, या मृत्यु-शय्या पर पड़े होते हैं। यह सब अनुभव करते हुए भी वह अपनी मृत्यु की बात गयी-आयी कर लेता है। परन्तु जिस प्रकार किसी शुतुर्मुर्ग के अपनी गर्दन और आँखें रेत में छिपा लेने से वह शिकारी के तीर से नहीं बच सकता, इसी प्रकार कोई साम्राज्य अपने अन्तकाल की बात को भूल कर मृत्यु के आक्रमण से सुरक्षित नहीं रह सकता। वह अपनी मौत को चाहे जितना भूल जाय, मृत्यु तो उसको भूलने वाली नहीं। वह एक न-एक दिन मरेगा, अवश्य मरेगा। इसमें कोई संशय नहीं; यह तो स्वयं-सिद्धि

बात है, इसमें तर्क वितर्क की गुंजायश नहीं।

मृत्यु का ठीक समय निर्धारित करने में कठिनाइयाँ-क्या साम्राज्यों की मृत्यु की, कुछ पहले से सूचना मिल सकती है? क्या उनके पतन की तिथि बतलाई जा सकती है? साम्राज्य के भविष्य का अनुमान करने में एक कठिनाई है। प्रायः विविध प्रकार की, और बहुधा परस्पर विरोधी शक्तियों का विचार करना पड़ता है। वह प्रवृत्ति से मालूम होता है कि साम्राज्य दृढ़ होता जाता है, दूसरी से अनुमान होता है कि क्रमशः ह्रास हो रहा है। यह हिसाब लगाना सरल नहीं है, कि इनमें से कौन सी दूसरी से अधिक बलवान होगी और कितने दिन तक इनका मुकाबिला होता रहेगा। फिर, इस बीच में सम्भव है कोई नयी बात पैदा हो जाय, जिसका प्रभाव धीरे-धीरे बढ़ता जाय। उदाहरण के लिए ब्रिटिश साम्राज्य की ही बात लीजिए अठारवीं शताब्दी के अन्त में संयुक्त-राज्य-अमरीका से इङ्गलैंड ने, उसके कर लगाने की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में, समझौता न किया; परस्पर युद्ध ठन गया, जिसमें अन्ततः अमरीका विजयी होकर साम्राज्य से पृथक् हो गया। साम्राज्य को भारी धक्का लगा, बहुत क्षति हुई। यदि इङ्गलैंड वैसा ही हठी रहता तो उसकी नीति से अन्य उपनिवेश भी साम्राज्य से अलग होने लगते। परन्तु सौभाग्य से उसके सूत्राधारों ने अमरीका से शिक्षा ली, और अन्य उपनिवेशों के साथ उदारता का व्यवहार किया, उन्हें अपने शासन का अधिकार दे दिया। इससे साम्राज्य का ह्रास होते-होते बच गया। इसके अतिरिक्त, इङ्गलैंड की

अमरीका से पृथक् हो जाने से जो हानि हुई, उससे अधिक लाभ उसे भारतवर्ष पर अधिकार प्राप्त करने से होने लग गया। इस प्रकार अमरीका की घटना को देख कर जो लोग साम्राज्य के ह्रास का हिसाब लगाते थे, वह ठीक नहीं बैठा।

एक बात और भी है। बहुधा साम्राज्यों की शान शौकत धूम-धाम और सभ्यता की चकाचौंध से भविष्य-वक्ता की दृष्टि चकाचौंध हो जाती है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि भविष्य-वक्ता का साम्राज्य के जीवन से, या मरण से व्यक्तिगत स्वाथ सिद्ध होता है। वह साम्राज्य-सूत्रधारों का कृपापात्र होने के कारण उनकी शुभ कामना में ही प्रसन्न होता है। अथवा, वह साम्राज्य की किसी दुखित और पीड़ित श्रेणी से सम्बन्धित होने के कारण हर दम उसके विनाश की कल्पना किया करता है। इस प्रकार साधारण मनुष्य स्वतन्त्रता-पूर्वक नहीं सोच पाते प्रतिभाशाली व्यक्ति ही बाहरी प्रभाव से मुक्त रह सकते हैं। इन पर भी सर्व साधारण को विश्वास नहीं होता। फिर, अनेक राजनैतिक ज्योतिषी अप्रिय भविष्य कथन करने पर सत्ता धारियों के कोप-भाजन बनते हैं। इस प्रकार साम्राज्यों की मृत्यु की सूचना स्पष्ट रूप से मिलने में कई कठिनाइयाँ हैं।

अनुमान हो सकता है— यह होते हुए भी विविध महानुभाव समय-समय पर यथा सम्भव इसका अनुमान करते हैं, और उसे निर्भीकता-पूर्वक स्पष्ट रूप से सूचित करने से नहीं चूकते। इनके कथन में कहाँ तक सच होता है, इसका विचार करने के लिए यह स्मरण रखना आवश्यक है कि साम्राज्यों के

विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक दिन तो क्या, अमुक वर्ष में उनकी मृत्यु होगी। प्रायः यह होता है कि साम्राज्य रूपी विशाल भवन धीरे-धीरे जीर्ण-शीर्ण होता है। उसका एक भाग अब गिरता है, तो दूसरा दस बीस या इससे भी अधिक वर्ष बाद गिरने के लक्षण दिखाता है; सम्भव है, इस बीच में वह साम्राज्य किसी-किसी भाग में कुछ वृद्धि या बल प्राप्त करता हुआ भी मालूम पड़े। इस प्रकार होते-होते साम्राज्य के पतन की क्रिया, आरम्भ होने के कभी कभी सौ पचास वर्ष तक चलती रह सकती है। तथापि अगर वह रोग से छुटकारा नहीं पाता तो उसका क्षय होता जाता है। ऐसी स्थिति में उस भविष्य वक्ता की बात मिथ्या नहीं कही जा सकती, जिसने साम्राज्य के विनाश की सूचना यथा-समय दे दी।

कुछ भविष्यवाणियाँ; नेपोलियन का कथन—उदाहरण-स्वरूप हम गत डेढ़ सौ वर्ष के भीतर की की हुई कुछ भविष्यवाणियों की चर्चा करते हैं। बहुत से आदमियों ने तुर्क साम्राज्य का अन्त बहुत पहले देख लिया था। नेपोलियन ने 'डायरेक्टरी' को लिखा था कि—'इस साम्राज्य को बनाये रखने की चेष्टा करना व्यर्थ है। हम अपने समय में ही इसका पतन देखने में समर्थ होंगे।' समय ने उसकी सच्चाई प्रकट कर दी। यही नहीं, नेपोलियन के विषय में यह भी प्रसिद्ध है कि उसने कहा था कि 'योरप में सर्वत्र प्रजातन्त्रों की स्थापना होगी।' राजनैतिक पाठक जानते हैं कि उसका यह कथन किस प्रकार क्रमशः सत्य प्रमाणित होता गया। यह और बात है कि

अब कुछ समय से परिस्थिति बदली हुई है। कुछ राज्यों में राजा डिक्टेटर या तानशाहों की चल रही है।

योरप के सम्बन्ध में पियरसन का मत—मि० पियरसन ने एक पीढ़ी पहले कहा था कि "वह दिन जल्द आने वाला है जब कि योरपियन देखेंगे कि संसार की कमज़ोर जातियाँ उनके विरुद्ध कमर कसे हुये हैं। पीली (चीनी और जापानी) और काली जातियाँ उनके अत्याचार सहने या उनकी अधीनता में रहने को तैयार नहीं है। योरपियनों के कला-कौशल को लात मार कर वे अपने देशों का व्यापार अपने हाथों में ले रही है। वे सर्वथा स्वतन्त्र, अथवा स्वतन्त्र के समान हो जायँगी। योरप की जातियाँ आपस में लड़ेंगी, और झगड़ा तय न होगा। चीन, हिन्दुस्थान, अमरीका के निवासी, अफ्रीका के काँगों, जेम्बज़ी आदि देशों और जातियों के प्रतिनिधि स्वतंत्र रूप में मित्रों की भाँति योरपियन संग्राम-सम्मेलन में सम्मिलित होकर बीच-बिचाव करेंगे। हमारे विज्ञान और सभ्यता की हमारी सरकार के साधनों की, बढ़ी-चढ़ी कला हमें वह दिन बड़ी शीघ्रता से दिखलाने के लिए घसीट रही है, जिस दिन नीच जातियाँ संसार पर शासन करती हुई, दिखलायी पड़ेंगी।"

इस कथन में योरप वालों को 'सभ्य' और दूसरों को 'नीच' समझा गया है; इसे छोड़ कर मुख्य बात का विचार करें। जैसी कि आशा थी, इस भविष्यवाणी का बड़ा उपहास किया गया, परन्तु सन् १९१४-१९ ई० में होने वाले योरपीय महायुद्ध ने बतला दिया कि उपहास करने वाले कितने अल्पज्ञ थे, और

उनकी तुलना में मि० पियरसन कितना दूरदर्शी और समय की परख करनेवाला था। जैसा कि इस भविष्यवक्ता ने कहा था, वह महायुद्ध योरपीय जातियों के लिए ह्रासकारक, और उनके अधीन एशिया अफ्रीका की जातियों के लिए जागृतिकारक हुआ है। यहीं नहीं, योरपीय जातियों की प्रतिद्वन्दिता अभी तक नहीं मिटी, दूसरा योरपीय महासमर और भी अधिक भयंकर हुआ और आधुनिक सभ्यता का अभिमान करनेवाले विज्ञान के नये नये आविष्कारों और साधनों के शिकार हो गये।

"हम जानते हुए मृत्यु को प्राप्त होंगे"—आसवल्ड स्पेंगलर नामक जर्मन विद्वान् ने भी भीषण भविष्य की कल्पना की है। उसका कथन है—"पश्चिम का पतन निकट आ रहा है। पश्चिमी योरप अपने शिखर पर पहुँच चुका है, और अब वह अधोमुख होगा। हमारे आध्यात्मिक साधनों का अन्त हो गया। संसार में मिथ्या भ्रम फैल गया है, यह अपने धैर्य और विश्वास को खो चुका है। इसकी उत्पादक शक्ति जाती रही है; हम अमिट भाग्य से जकड़े हुये हैं।" इस लेखक की सूचना है कि 'जब रोम यूनान आदि की प्राचीन सभ्यताएँ नष्ट हुईं, तो उन्हें इस बात का पहले से कुछ ज्ञान नहीं था परन्तु हम अपना इतिहास जानते हैं। हम जानते हुये मृत्यु को प्राप्त होंगे। अपने अँग-विच्छेद की एक एक मंजिल तय होते समय, हम अनुभवी चिकित्सक की भाँति उसे देख सकेंगे।" इस सज्जन की इस स्पष्टोक्ति पर अप्रसन्नता और क्रोध प्रकट करने वाले

तो बहुतेरे मिल सकते हैं, परन्तु कहाँ हैं वे सूत्रधार जो इस का ध्यान रखते हुए, समाजों और साम्राज्यों के यथेष्ट पथ-प्रदर्शक बनें।

प्रोफेसर सीले का मत—पचास वर्ष हो गये प्रोफेसर सीले ने इंगलैंड और भारत के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में अपना मत प्रकट कर दिया था। उन्होंने लिखा था :—

"जिस प्रकार का आन्दोलन इटली ने आस्ट्रिया के विरुद्ध किया था, उसी प्रकार का, एक राष्ट्रीयता का आन्दोलन यदि हिन्दुस्थान में आरम्भ हो तो हम उसे उस अंश में भी न दबा सकेंगे, जिस अंश में आस्ट्रिया ने इटली में दबाया था, जिसका स्वभाविक परिणाम यह होगा कि हमारा साम्राज्य नष्ट हो जायगा।…… हम भारत में देशी सेना खड़ी कर सके हैं, इसका कारण यह था कि वहाँ राष्ट्रीयता का भाव जागरित नहीं हुआ था। पर य द हिन्दुस्तान में राष्ट्रीयता का भाव निर्बल रूप से भी जागृत हो उठे—उनके हृदयों में यह भाव न भी उठे कि हिन्दुस्तान से अँगरेज निकाल दिये जायँ, पर इतना हो जाय कि अँगरेजों को शासन चलाने में सहयोग देना वे लज्जा की बात समझने लगें तो प्राय: उसी दिन से हमारे भारतीय साम्राज्य का अस्तित्व नष्ट हो जायगा।………बिना सोचे-विचारे हम हिन्दुस्थान को एक विजित देश समझते हैं। पर यदि हिन्दुस्थान सचमुच ही अपने को विजित देश मानने लगे तो हमें मालूम हो जाय कि इसे अधीन रखना कैसा असम्भव है।"❀

❀Expansion of England.

भारतीय पाठक अपने देश की उस राष्ट्रीय प्रगति को भली भाँति जानते हैं जो यहाँ गत वर्षों में हुई है, और जिसके विषय में प्रोफेसर सिले ने अशंका की थी। वे भारतवर्ष और इंगलैण्ड के भावी सम्बन्ध का और उसके परिणाम-स्वरूप ब्रिटिश साम्राज्य के साम्राज्यपन में होने वाले अन्तर का, सहज ही अनुमान कर सकते हैं।

चेतावनी की उपेक्षा—प्रायः किसी साम्राज्य का अन्त होने से पूर्व ही विचारशीलों को यह ज्ञात होने लग जाता है कि अब अन्त निकट है। किन्तु साम्राज्य-सूत्रधार उस ओर यथेष्ट ध्यान नहीं देते, वे इस विषय की चेतावनी की उपेक्षा करते हैं। वे अपने रंग-ढंग में कुछ सुधार नहीं करते, उनका रवैया पहले की तरह चलता रहता है। सन् १९४० में फ्राँस का पतन हुआ था। इसके विषय में वहाँ के सुप्रसिद्ध स्वतन्त्र विचारक रोम्याँ रोलाँ को पहले से (पिछले योरपीय महायुद्ध के बाद) ही आशंका थी। उन्होंने लिखा है, "मैंने फ्राँस द्वारा रूहर प्रदेश हड़प लिए जाने की निन्दा की, फ्राँस तथा जर्मनी में मधुर सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की और इस बात की विशेष कोशिश की कि विजेता राज्यों ने जो अत्याचार जर्मनी के साथ किये, उसकी क्षति-पूर्ति वे अपने व्यवहार से करें। उदारता, मनुष्यता, तथा राजनैतिक बुद्धिमत्ता का तकाजा यही है। अगर इन दिनों (लड़ाई के खतम होने पर) फ्रांस, जिसके पक्ष में तमाम दुनिया की शक्ति है, ऐसा नहीं करेगा तो वह जर्मनी को भविष्य में क्रूर हिंसा की शरण लेने के लिए बाध्य

करेगा, और इसकी सारी जवाबदेही फ्रांस पर होगी।"

फ्रांस ने अपने इस परम हितैषी नागरिक की बात न सुनी, या सुनी-अनसुनी कर दी। और, एक फ्रांस की ही बात नहीं, उसकी जगह कोई दूसरा विजयी राज्य होता तो वह भी साधारणतया यही करता, जो फ्रांस ने किया। विजेताओं और शासकों का स्वभाव ही ऐसा होता है। उनमें अधिकार और विजय का उन्माद रहता है। उनमें दूर की बात सोचने की क्षमता नहीं होती, त्याग की भावना नहीं होती। अस्तु, फ्राँस की इस उपेक्षा का जो परिणाम होना था, वह होकर रहा। वार्साई की संधि उसकी विजय की घोषणा कर रही थी, वह बीस वर्ष में ही उसकी पराजय का कारण हुई। संसार में ऐसी चेतावनी की उपेक्षा न जाने कितनी बार हुई है; फिर उपेक्षा, और फिर उपेक्षा, और फिर उसका दुष्परिणाम; यह चक्र चला ही है।

विशेष वक्तव्य; मृत्यु या आत्म-हत्या?—प्राय: यह समझा जाता है कि कोई राज्य या साम्राज्य इसलिए विध्वंस होता है कि दूसरा उससे अधिक बलवान उस पर आक्रमण कर देता है जिससे वह परास्त होकर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। स्थूल दृष्टि से यह ठीक है। पर जिज्ञासु पाठकों को कुछ गहरा विचार करने की आवश्यकता है। उन्हें मालूम हो जायगा कि कुछ दशाओं में, एक सीमा तक साम्राज्यों का अन्त उनके अपने ही विकारों के कारण होता है। विलासिता, चरित्र-हीनता, अज्ञान, पारस्परिक द्वेष आदि रोगों या दुर्गुणों से दूसरों को उनपर आक्रमण करने की प्रेरणा या साहस होता है। इस

प्रकार आक्रमणकारी, बहुधा रोग-शय्या ही नहीं मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए अधमरे साम्राज्य पर धावा करता है; वह उसकी मौत का नाम-मात्र का कारण होता है। फ्रांस के विषय में ऊपर कहा गया है। उसके पतन के कारण उसके ही प्रधान मन्त्री मार्शल-पेताँ के शब्दों में सुनिए—"सन् १९१८ में हमारे राष्ट्र की जीत होने की बाद, हमारे लोगों में त्याग की अपेक्षा ऐशो आराम की वृत्ति का अधिक आदर होने लगा। लोगों ने त्याग न किया; लेकिन वासनाएँ बढ़ायीं; मेहनत को टालने की प्रवृत्ति रही। नतीजा यह हुआ कि हमारे देश पर दुर्भाग्य का चक्र घूम गया।" इस प्रकार कहा जा सकता है कि कुछ दशाओं में साम्राज्य, अनजान में ही सही स्वयं अपनी मृत्यु में सहायक होता है। तो क्या साम्राज्य, कभी-कभी आत्म-हत्या का भी दोषी होता है? अगले पृष्ठों में इसका विचार करें।

———

चौथा अध्याय

राम-साम्राज्य

माना कि अब हुक्मरानी नहीं है, अयोध्या की वह राजधानी नहीं है।
रघुवंश की गो निशानी नहीं है, पर वह क्या चीज है, जो कि फ़ानी नहीं है॥

अब हम कुछ साम्राज्यों का परिचय देते हुए इस बात का विचार करेंगे कि किन-किन कारणों से उनका ह्रास या पतन हुआ। पहले भारतीय साम्राज्यों का विचार करना सुविधाजनक होगा। रामायण की घटनाओं को बहुत-से आदमी 'ऐतिहासिक' नहीं मानते।

यह ठीक है कि संस्कृत तथा हिन्दी आदि में में जो अनेक रामायण—ग्रन्थ है, वे ज्यादहतर काव्य हैं, उनमें कवि-कल्पना या उड़ान को बहुत अधिक स्थान मिला है, और बहुत सी बातें खूब बढ़ा-चढ़ा कर कही गयी हैं, यहाँ तक कि साधारण पाठकों के लिए यह जाँच कर सकना सम्भव नहीं कि उनमें असलियत कितनी है। तथापि हमारी यह धारणा है कि राम कोई कल्पित व्यक्ति नहीं है और न उनके बारे में जो बातें प्रचलित हैं, उनमें अत्युक्ति भले ही हों, उनका आधार वास्तविक घटनाएँ हैं।

राम साम्राज्य की कथा समझने के लिए कुछ बातें ध्यान में रहना आवश्यक है। उस समय आर्य लोग आर्यावर्त के बाहर

बहुत कम गये थे, और आर्यवर्त हिमालय और विन्ध्याचल के बीच में, पूर्व में मिथिला तक ही था। आर्य दक्षिण की ओर बढ़ना चाहते थे, पर विन्ध्याचल को पार करना कठिन था। जिस आर्य ने सब से पहले इस पर्वत को पार किया, वह अगस्त्य ऋषी था। पीछे कई आर्यों ने दक्षिण में बस्तियाँ या उपनिवेश बनाना आरम्भ किया। विश्वामित्र भी ऐसे एक उप-निवेश में रहते थे। विन्ध्य के दक्षिण में रहने वाली बानर, ऋक्ष, भाग और राक्षस आदि अनार्य जातियों को आर्यों का इधर बढ़ना बुरा लगता था। इनमें राक्षस सब से प्रबल थे। वे आर्य ऋषियों के यज्ञ में बहुत बाधा डालते थे। विश्वमित्र ने आर्य राजाओं का ध्यान इस ओर दिलाया और अन्त में राम लक्ष्मण को वहाँ ले जाकर शस्त्रास्त्रों से लड़ना सिखाया। यद्यपि राक्षस शारीरिक बल में आर्यों से बढ़े-चढ़े थे, पर कुछ इने-गिने व्यक्तियों को छोड़कर, वे आमतौर से युद्ध विद्या में कुशल न थे; वे धनुष बाण की मार के सामने न टिक सके, कुछ मर गये, और शेष भाग गये। राक्षसों का राजा रावण था। वह था तो आर्य—पौलस्त्य ब्राह्मण—पर राक्षसोंका अधि-पति होने के कारण उसने अनार्य नीति अपना रखी थी। वह आर्यों को दबाने का निरंतर प्रयत्न करता रहता था।

इस प्रकार राम और रावण का विरोध स्वाभाविक था। दोनों आर्य होते हुए भी जुदा-जुदा संस्कृतियों के नायक थे। एक ओर रामचन्द्र अथवा सूर्यवंशी राजा आर्यों की शक्ति के प्रतिनिधि थे। दूसरी ओर थे राक्षस, बानर, ऋक्ष आदि अनार्य जातियाँ।

सर्वसाधारण भारतीयों में, विशेषतया धार्मिक साहित्य के प्रभाव से, यह धारणा हो गयी है कि यह दूसरा पक्ष मनुष्यों का न था; राक्षस भयानक आकृति वाले, विशाल शरीर, अग्नि जैसी आँखों, विकराल दाढ़ों, और लम्बी जीभ वाले मनुष्य-भक्षी जीव विशेष थे; और, इसी प्रकार बानर, ऋक्ष आदि बन्दर रीछ आदि पशु थे। यह धारणा नितान्त भ्रम-पूर्ण है। बाल्मीकि रामायण आदि ग्रन्थों से ही यह भली भाँति प्रमाणित है कि यद्यपि उनका भेष, भाषा और सामाजिक रीति व्यवहार आर्यों से भिन्न था, तथापि वे सब थे, मनुष्यों के ही वर्ग विशेष। उनके अपने राजा और राज्य थे, और वे कला-कौशल, विद्या, साहित्य, राजनीति, आदि में बड़े कुशल थे। राक्षसों ने तो भौतिक उन्नति में बहुत ही प्रगति की थी।

उनके कुछ आविष्कार ऐसे हो चुके थे जिनका आर्यों को बहुत कम पता था, और जिनसे बानर कुछ लाभ उठा लेते थे। उदाहरण के लिए रावण के पास तो पुष्पक विमान था, हनुमान के पास भी कोई विमान रहा होगा जिस पर सवार होकर उसने लंका की यात्रा की थी और संजीवनी बूटी लाया था। हाँ, विमान आदि का उपयोग उस समय राजा या सरदार आदि खास-खास आदमी ही करते थे, सर्वसाधारण नहीं कर सकते थे।

आर्यों और अनार्यों के संघर्ष की और उसमें वानरों आदि के हिस्सा लेने की कथा बहुत बड़ी है, पर हमें उसके उतने हिस्से का ही विचार करना है, जितने का सम्बन्ध राम और रावण

से है।

उस समय में आर्य राजाओं के राज्य छोटे-छोटे थे। अकसर ये थोड़ी-सी जमीन आदि के लिए एक दूसरे से लड़ पड़ते थे। इन राजाओं का अपने पास वाले राजाओं से ही विशेष सम्बन्ध होता था। विविध आर्य नरेशों का मेल और संगठन हो, इस ओर ध्यान नहीं दिया जाता था। मिसाल के तौर पर मिथिला के राजा की कन्या (सीता जी) के स्वयंम्बर के समय अयोध्या नरेश के यहाँ निमन्त्रण तक न गया।

आर्य नरेशों की इस स्थिति से लाभ उठाने की राक्षस-राज रावण ने भरसक कोशिश की। अपनी लंका को वह इतना समृद्धिशाली बना चुका था कि सर्वसाधारण में वह सोने की लंका प्रसिद्ध थी। इस टापू की भौतिक या वैज्ञानिक उन्नति की बात ऊपर कही जा चुकी है। आर्थिक और वैज्ञानिक उन्नति से प्रोत्साहित होकर रावण भारतवर्ष में अपने उपनिवेश बनाने की धुन में था। लंका छोटा सा टापू है, इस विचार से उसके मनसूबे में बाधा नहीं आती थी।* उसने भारतवर्ष की परिस्थिति और आर्य नरेशों के दोषों या त्रुटियों का अध्ययन किया। उसने देखा कि ये राजा लोग यहाँ के उन मूल निवासियों को भी अपने से दूर ही रखते हैं, जिन्होंने आर्य संस्कृति खासे परिमाण में अपना ली और उनसे मित्रता कर ली थी। रावण ने इन

*आधुनिक काल में इंगलैण्ड, हालैंड, वेलजियम आदि ने अपने से सैकड़ों गुणे भू-खंडों में अपने उपनिवेश स्थापित किया और साम्राज्य बनाया।

लोगों से मेलजोल किया, फिर वालि आदि वानर नरेशों की ओर मित्रता का हाथ बढ़ाया।

इसके अलावा उसने कुछ आर्य नरेशों को भी अपनी तरफ मिलाने का विचार किया। अपनी राजधानी से इतनी दूर मिथिला में श्री सीता जी के स्वयम्वर में आने का यही रहस्य था कि वह किसी तरह जनक राजकुल से सम्बन्ध स्थापित कर सके। वह इसमें सफल न हो सका। पर यह स्पष्ट है कि उपनिवेश बनाने और साम्राज्य निर्माण करने के विविध प्रयत्न करने में उसने कोई कसर न उठा रखी। पीछे राम-रावण युद्ध में उसके वंश के सभी प्रमुख व्यक्ति समाप्त हो गये या राम की शरण में आ गये और बाद में राक्षस कुल का कोई प्रतिभाशाली पुरुष ऐसा न हुआ जिसमें साम्राज्य-निर्माण के लिए रावण का सा हौसला और उमग हो।

अस्तु, अब हम रामचन्द्र जी की बात करते हैं। ये अयोध्या के सूर्यवंशी महाराजा दशरथ के सबसे बड़े लड़के थे। दशरथ की तीन रानियाँ थीं, और उनसे चार पुत्र हुए थे—कौशल्या से राम, सुमित्रा से लक्ष्मण और शत्रुघ्न, और केकयी से भरत। जब दशरथ जी बूढ़े हो गये तो उनके उत्तराधिकारी या वारिस का सवाल पैदा हुआ। मंत्रियों और मुखियों की सम्मति से रामचन्द्र जी को राजगद्दी देने की रही। दशरथ जी भी यही चाहते थे, पर उन्हें आशंका थी कि केकयी अपने पुत्र भरत को गद्दी दिलाने का आग्रह करे। इसलिए उन्होंने भरत को उसके मामा के यहाँ केकय राज में भेज दिया, और इसमें किसी को कोई

चालबाजी न मालूम हो, इसलिए सुमित्रा के छोटे लड़के शत्रुघ्न को उसके साथ कर दिया। इस प्रकार विरोध की आशङ्का दूर होने पर राम के राज्याभिषेक की तैयारी होने लगी।

इधर, दक्षिण के आर्य उपनिवेशों के ऋषियों ने सोचा कि यदि राम ने राज-काज संभाला तो उन्हें हमारी सहायता करने उपनिवेशों से राक्षसों का आतंक दूर करने का अवकाश न मिलेगा। ऋषियों ने अपना मनोरथ पूरा करने के लिए केकयी का सहारा लेने का विचार किया, जिसे राजा दशरथ ने किसी समय दो वर देना स्वीकार कर रखा था। केकयी से काम लेने के लिए उसकी दासी मंथरा को राजी किया गया। सम्भव है, मंथरा को अपने पक्ष में करने के लिए ऋषियों ने शारदा या सरस्वती नाम की किसी चतुर स्त्री की सहायता ली हो और इस बात को तुलसी दास जी ने कविता में अनोखे ढंग से कहा हो।

निदान मंथरा के समझाने बुझाने पर केकयी ने दशरथ से जो दो वर माँगे वे ये थे—राम को चौदह वर्ष का बनवास और भरत को राजगद्दी। राजा दशरथ बड़े चक्कर में पड़े, पर अंत में अपनी प्रतिज्ञा निभाने के लिए उन्होंने केकयी को उसके माँगे दोनों वर दे दिये।

राम राजपरिवार में ही नहीं राज्यभर में सब के बहुत प्यारे थे। यद्यपि केकयी ने किसी प्रकार उन्हें बनवास दिला दिया, दूसरे सब आदमी तो इसका अन्त तक विरोध करते रहे। परन्तु राम ने उन सब को दिलासा देकर अपने पिता की बात

पूरी करना उचित समझा, यद्यपि दशरथ जी ने रामचन्द्र जी को साफ तौर से बन में जाने की आज्ञा नहीं दी थी, असल में राम के वियोग की बात मन में लाने से ही उन्हें भारी दुख हुआ था, और अब रामचन्द्र बन में चले गये और उनके जल्दी लौट आने की आशा न रही तो दशरथ जी से यह दुख सहन न हुआ, और उनके प्राण पखेरू उड़ गये।

राजगद्दी छोड़कर बन चले जाने में राम का त्याग तो प्रत्यक्ष दीख जाता है पर उनकी कुशाग्र राजनीति-बुद्धि की ओर सहज ही ध्यान नहीं जाता। यदि राम राज्य के लोभ में फँस जाते तो राज-वंश में गृह-कलह की बहुत कुछ सम्भावना थी। जो भरत इनके त्याग को देखकर तथा इनको बन में मिलने वाले कष्टों का अनुमान करके इनके और भी भक्त हो गये, वह जब इन्हें एक प्रतिद्वन्द्वी के रूप में पाते, तो उनके मन में इनके प्रति इतना अनुराग रखते, इसमें सन्देह ही है। फिर केकयी तथा भरत के ननसाल वाले इन्हें कब चैन लेने देते। इस प्रश्न को लेकर अयोध्या और केकय प्रदेश (काबुल) में युद्ध छिड़ जाने की आशंका हो सकती थी। रामचन्द्र की दूरदर्शिता से यह सब कांड होते-होते रह गया। अपने त्याग से उन्होंने विपत्तियों को भी अपना अनन्य प्रशंसक और सहायक सेवक बना लिया। एक बात और भी थी। रामचन्द्र जी बाल्यावस्था में विश्वामित्र मुनि के आश्रम में रह कर, उनके, तथा अन्य आर्य मुनियों के कष्टों की असलियत जान गये थे। उन्हें आर्य सभ्यता के उन केन्द्रों का भी ज्ञान था, जो विविध ऋषियों ने दक्षिण में स्थापित

किये थे। इसलिए बन में जाने पर रामचन्द्र जी को, अनार्यों को विध्वंस कर, आर्य साम्राज्य और आर्य सभ्यता का विस्तार करने का अवसर मिल सकता था। वे इसे कब छोड़ने वाले थे! अस्तु, वे सहर्ष बन को गये और उनके साथ गये उनके भाई लक्ष्मण, और सहधर्मणी सीता। भरत जी ने राजगद्दी स्वीकार न की, वे रामचन्द्र जी की अनुपस्थिति में उनके प्रतिनिधि की हैसियत से ही राज-कार्य करते रहे।

बन में रहते हुए रामचन्द्र जी ने दक्षिण के विविध भागों में भ्रमण किया। अनेक राक्षसों का बध किया और स्थान-स्थान पर आर्य संस्कृति का प्रचार किया। दंडकबन में लङ्का के राजा रावण की अधीनता में अनार्यों का एक प्रधान अड्डा था। यहाँ खर दूषण आदि अत्यन्त बलवान् सेनापति रहते थे। रामचन्द्र जी ने इस अड्डे को नष्ट कर दिया। खर दूषण मारे गये, शूर्पनखा (रावण की बहिन) के नाक कान काट लिए गये। जब रावण को इसकी सूचना मिली, तो उसने बदला लेने के लिए सीता का अपहरण किया और उसे लंका* में ले गया।

सीता की खोज करते हुए राम लक्ष्मण ऋष्यमूक पर्वत के पास वानर-राज सुग्रीव से मिले, जिसे उसके बड़े भाई राजा बाली ने किष्किंधा से निकाल रखा था, उसकी इनसे संधि हो गयी। निश्चय हुआ कि राम लक्ष्मण तो बाली को परास्त करें, और सुग्रीव इन्हें सीता की खोज में, और रावण पर

*रावण की लङ्का कहाँ थी, इस विषय में विद्वानों के अब कई मत हैं। साधारणतया आदमी वर्तमान 'सीलोन' को लङ्का मानते हैं।

विजय प्राप्त करने में सहायता दे। तदनुसार रामचन्द्र जी ने वाली का बध किया इसके पश्चात् सुग्रीव किष्किंधा का राजा बनाया गया; बालि का पुत्र अंगद उस समय कम उम्र का होने के कारण, राज्य-कार्य-संचालन में असमर्थ था, उसे युवराज बनाया गया। सुग्रीव, उसके कर्मचारियों और सेना ने राम लक्ष्मण की भरपूर सहायता की। सुग्रीव का मंत्री हनुमान तो इनका बड़ा ही भक्त हो गया। उसने समुद्र को तैर कर पार किया और युक्ति से लंका में प्रवेश कर सीता का पता लगाया तथा वहाँ के विविध सैनिक भेदों और रहस्यों का परिचय प्राप्त किया। उसने देखा कि जनता धन-वैभव सम्पन्न है। रावण एक कुशल शासक और नीतिज्ञ है। उसका मंत्रि मंडल भी नीति निपुण है, हाँ, रावण उसके समस्त निर्णयों को मानने के लिए बाध्य नहीं है; वह बहुत कुछ स्वेच्छाचारी है। सीता अपहरण आदि में उसकी स्वेच्छाचारिता के कारण उसका भाई विभीषण उसके पक्ष को त्याग कर राम से आ मिला।*

लंका में राम और रावण का घोर युद्ध हुआ। उसमें अन्ततः रावण अपने भाई-बन्धुओं और सेना-नायकों सहित मारा गया। राम ने विजयी होकर लङ्का को कौशल राज्य में नहीं मिलाया, वरन् रावण के भाई विभीषण को ही वहाँ की राजगद्दी दे दी। इसमें राजनैतिक पाठक के लिए केवल राम की

---

*राम-भक्तों ने विभीषण की बहुत प्रशंसा की है, पर दूसरी ओर वह 'घर का भेदी' या 'देश-द्रोही' भी कहा जाता है। कहावत है, 'घर का भेदी लङ्का ढावे।'

उदारता नहीं है, नीति भी है। पराये राज्य में अपने वंशज या रिश्तेदार को अधिकारी बनाने से, प्रायः वहाँ की प्रजा से झगड़ा मोल लेना होता है। राज-कार्य में कुशल श्री रामचन्द्र जी इससे बचे रहे। फिर; विभीषण इनका अपना ही तो आदमी था।

बनवास की अवधि समाप्त होने तक, रामचन्द्र जी अनार्यों पर विजय प्राप्त करने, वहाँ अपना प्रभुत्व स्थापित करने तथा अपनी संस्कृति का प्रचार करने में सफल हो चुके थे। अब वे सीता, लक्ष्मण और हनुमान आदि सहित अयोध्या आये और लोक-सेवा तथा प्रजा-हित की दृष्टि से राज्य करने लगे।

राम ने अपने शासन में कई अश्वमेध आदि यज्ञ किये। इनके भाई, पुत्र आदि ने भी कई यज्ञ किये। प्रजा को सुखी, संतुष्ट, निरोगी और सुशिक्षित करने के यथेष्ट प्रयत्न किये गये जो पर्याप्त रूप से सफल भी हुए। कहीं चोरी, व्यभिचार, चिन्ता, या रोग आदि न था, कोई आर्थिक या अन्य प्रकार का कष्ट न था। यहाँ तक राम-राज्य का अर्थ ही अच्छा, आदर्श, प्रजा-हितकारी राज्य हो गया।

रामचन्द्र जी के साम्राज्य का विस्तार कितना था, वह कहाँ तक फैला हुआ था, यह एक विचारणीय विषय है। प्राप्त वृत्तान्तों के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि प्रायः समस्त भारतवर्ष उनके अधिपत्य में था। रामचन्द्र जी एक बनवासी के रूप में भी जहाँ कहीं गये, उनका आर्य पुरुषों में सर्वत्र आदर हुआ और उन्हें राजा के रूप में स्वीकार किया

गया। दंडकारण्य में, अगस्त ऋषि के आश्रम में जब राम ने यह शंका की, कि मेरा स्वागत-सत्कार कैसे होना उचित है, तो ऋषि ने कहा कि राजा सबका रक्षक है और धर्माचरण कराने वाला है, अतः वह सबके लिए पूज्य और मान्य है। पश्चात् जब रामचन्द्र जी इससे भी आगे दक्षिण में किष्किन्धापुरी में थे, उन्होंने सुग्रीव से मित्रता की संधि की और बाली का वध किया तो बाली के यह कहने पर कि मैंने आपका क्या बिगाड़ा, मैं आपके राज्य या नगर में कुछ अनुचित कार्य करता तो आपका मुझे दंड देना उपयुक्त होता, राम जो उत्तर देते हैं वह भी विचारणीय है। राम कहते हैं कि "किष्किन्धा प्रदेश, वन पर्वत सहित, ईक्ष्वाकू अथवा सूर्यवंश वालों का है। महाराज (सम्राट्) भरत का शासन है। हम उनके कर्मचारी या प्रतिनिधि हैं। अतः दुराचारियों और अधर्मियों को दंड देने का हमें अधिकार है।" इससे स्पष्ट है कि दक्षिण भारत में यहाँ तक तो अयोध्या के महाराज का आधिपत्य था ही।

पर जैसा पहले कहा जा चुका है, इसका अर्थ तत्कालीन परिस्थिति और व्यवस्था के अनुसार ही लिया जाना चाहिए, आजकल के अनुसार नहीं। अर्थात् ईक्ष्वाकू अथवा रघुवंशी राजाओं को सर्वोच्च या सर्वश्रेष्ठ अवश्य माना जाता था पर अपने-अपने क्षेत्र में विविध राजा महाराजों को शासन-कार्य की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। यही नहीं, मालूम होता है कि उस समय देश में पहाड़ी भूमि के अतिरिक्त, स्थान-स्थान पर बड़े-बड़े विशाल वन थे, जो बाद में बहुत-कुछ काट दिये गये। इन पर्वतों और

वनों में वानरों और राक्षसों आदि का स्वच्छन्द शासन था। ये किसी आर्य सम्राट् की प्रभुता नहीं मानते थे। वरन् समय-समय पर इनका इनसे संघर्ष होता रहता था। उदाहरणार्थ लंका और अयोध्या का बैर विरोध बहुत पुराना था। रामचन्द्र जी की चतुराई इस बात में है कि इन्होंने कुछ बानरों और राक्षसों को अपनी तरफ मिला लिया, और बाकी सब को अच्छी तरह हरा दिया।

राम की विजय का बहुत कुछ श्रेय हनुमान को है, वह बहुत ही नीतिज्ञ और बुद्धिमान था। उसने खुद तो राम की मदद की ही, इसके अलावा उसने राम से सुग्रीव की मित्रता करा कर बानरों की भी पूरी सहायता राम को दिलायी। यही नहीं, उसने विभीषण को राम से मिला कर रावण की शक्ति क्षीण कर डाली। इस तरह हनुमान ने राम के मार्ग की बाधा दूर करने में भारी कार्य किया। यदि हनुमान बन्दर होता तो वह यह महान कार्य कैसे कर पाता। हनुमान को बन्दर, और रावण को दस सिर वाला राक्षस इसलिए प्रसिद्ध किया गया कि राम के प्रति लोगों की भावना या श्रद्धा भक्ति बढ़े। परन्तु विचारशील पाठक इन बातों में विश्वास न करते हुए भी राम के जीवन की विशेषता और महत्ता का अनुमान कर सकते हैं।

रामचन्द्र जी लंका जीत कर अयोध्या में आ गये तब भी आवश्यकता या सुविधानुसार विजय कार्य होता रहा। मधुपुरी (मथुरा) में मधु का पुत्र लवणासुर राज करता था; जब रामचन्द्र जी को उसकी अनीति और अत्याचार मालूम हुए तो

उन्होंने उसे विजय करने के लिए शत्रुघ्न को आदेश किया शत्रुघ्न ने सेना ले जाकर उसे हराया और यमुना के तट पर ए सुन्दर नगर बसाया कालान्तर में शत्रुघ्न ने बहुत वर्षों तक यह राज्य कर लेने पर, इसे अपने दोनों पुत्रों में विभक्त कर दिया सुबाहु को मथुरा नगरी का, और शत्रुघाती को वैदिश नगर क राजा बनाया गया।

भरत के मामा युधाजित का संदेश पाकर, रामचन्द्र जी ने भरत को आज्ञा दी कि गन्धर्व देश विजय करके, अपने पुत्रों क वहाँ का शासक नियुक्त कर दो। इस पर भरत जी ने उसे केकय नरेश युधाजित की सहायता से गन्धर्वों को हराया औ वहाँ अपने पुत्रों के नाम पर दो नगर बसाये—तक्षशिला औ पुष्कलावत। क्रमशः तक्ष और पुष्कल को राजा बनाया गया।

पीछे लक्ष्मण के दो पुत्रों अंगद और चन्द्रकेतु को राज्य देने का विचार हुआ। इनके लिए रामचन्द्रजी ने कारुपथ (कामरूप) को अपने अधीन किया, इसमें अंगदीयापुरी अंगद को और चन्द्रकान्त नाम की नगरी चन्द्रकेतु को दी। अपने जीवन के अन्तिम भाग में रामचन्द्र जी ने दक्षिण कौशल में कुश को और उत्तर कौशल में लव को, अभिषिक्त किया। कुश और लव श्री रामचन्द्र जी के पुत्र थे। इस प्रकार जब कि पहले ईक्ष्वाकु वंश का प्रत्यक्ष राज्य केवल अयोध्या में ही था, अब श्री रामचन्द्रजी की व्यवस्था से, यह बहुत बढ़ गया; दूर-दूर के प्रान्तों में इसी वंश के राजाओं का शासन होने लगा।

अस्तु, इस साम्राज्य के कालान्तर में होने वाले, विनाश

के कारणों का विचार करें। प्रथम और मुख्य बात तो यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि तत्कालीन शासकों पर शास्त्रों, मंत्रियों एवं लोक सभा का नियन्त्रण रहता था तथापि ऐसे राज्यों में प्रधान शासक के गुण दोषों का बड़ा प्रभाव पड़ता है। यह बात उस समय के साम्राज्यों (चक्रवर्ती राज्यों) क विषय में और भी अधिक चरितार्थ होती थी। उनका बल या निर्बलता सम्राट् (महाराजा) के व्यक्तित्व पर निर्भर रहती थी। पराक्रमी, गुणवान, आदर्श चरित्रवान सम्राट् की प्रभुता दूसरे नरेश सहज हो, सहर्ष ही नहीं, अभिमान-पूर्वक स्वीकार कर लेते थे। पर ये अपने शासन प्रबन्ध आदि में सर्वथा स्वतन्त्र रहते थे। सम्राट् को भेंट या उपहार आदि देने, या उसके राज्याभिषेक, यज्ञ या उसके परिवार वालों के विवाह-शादी आदि के विशेष और इने-गिने अवसरों पर उपस्थित हो जाने, के अतिरिक्त, इनका साम्राज्य से मानों कोई सम्बन्ध ही नहीं होता था। और, यह भी केवल उस समय तक, जब तक कि सम्राट् का व्यक्तित्व विशेष प्रभावशाली हो। सम्राट् के बाद प्राय: उसका ज्येष्ठ पुत्र राज्याधिकारी होता था, और यह आवश्यक नहीं कि उसका व्यक्तित्व भी अपने पूर्वज के समान ही प्रभावशाली हो; बस उसके कम गुणवान या अयोग्य होते ही साम्राज्य का ह्रास हो जाना स्वाभाविक था।

ऊपर यह बताया जा चुका है कि श्री रामचन्द्र जी ने स्वयं ही अपना साम्राज्य अपने पुत्रों और भतीजों में बाँट दिया। इससे साम्राज्य आठ अलग-अलग भागों में बँट गया; प्रत्येक

भाग का अलग-अलग शासक था। इस प्रकार आठ शासक हो गये। यह व्यवस्था इस दृष्टि से तो अवश्य अच्छी रही कि गृह-कलह न हो, भाई-भाइयों का, राज्य के लिए परस्पर झगड़ा न हो। परन्तु साम्राज्य की दृष्टि से सोचिये। इन आठ शासकों में सब अपने अपने राज्य में स्वतन्त्र हैं, परन्तु इनमें प्रधान शासक कौन है, और उसकी प्रभुता शेष दूसरे शासक मानें इसकी व्यवस्था कहाँ है? सम्भव है, इन आठो भाइयों ने बहुत सहयोग के भाव से राज्य-कार्य किया हो। परन्तु ऐसी व्यवस्था एक दो पीढ़ी चल जाय, यही गनीमत है। पीछे तो ऐसे साम्राज्य के टुकड़े-टुकड़े हो जाना अनिवार्य ही है। ऐसे साम्राज्य में दृढ़ संगठन या अनुशासन होता ही नहीं, यह अंशतः लोगो की धार्मिक भावना पर, और अंशतः प्रधान शासक के व्यक्तित्व पर स्थिर रहता है। खंड-खंड हो जानेपर इसका पतन स्वाभाविक है।

यथेष्ट सामग्री के अभाव में, इस साम्राज्य के पतन के अन्य कारण ज्ञात नहीं होते। यह कहा जा सकता है कि "बहु-विवाह प्रथा भी साम्राज्यों की निर्बलता का एक विशेष कारण थी, क्योंकि इस के फल-स्वरूप अन्तःपुर के कलह, और राज्यों के घरू युद्ध होना स्वाभाविक था। राज्य के सब उत्तराधिकारियों से रामचन्द्रजी के विनय या गुरुजन-आज्ञापालन, और भरत के त्याग की आशा नहीं की जा सकती। फिर, कुछ आदमी दूसरों को लड़ा-भिड़ा कर अपना स्वार्थ सिद्ध करनेवाले होते ही हैं, उन्हें उपर्युक्त परिस्थिति में अपने लिए अच्छी सामग्री मिल जाती है।" इस कथन में कुछ सचाई अवश्य है।

पाठक यह भी कह सकते हैं कि "शूद्रों को तपस्या करने और शास्त्र पढ़ने का निषेध ऐसे लोक-प्रिय राज्य में कैसे चल सकता है, जहाँ एक निम्नश्रेणी के व्यक्ति (धोबी) द्वारा राज-कुल पर (सीता जी की पवित्रता के सम्बन्ध में) किया हुआ आक्षेप उतना ही विचारणीय माना जाता है, जितना किसी प्रतिष्ठित और विवेकशील व्यक्ति का। राज्य एक ओर यह दर्शाता है कि सब लोगों के अधिकार समान हैं, दूसरी ओर वह समाज के एक खासे बड़े हिस्से को काम करने की स्वतन्त्रता नहीं देता। क्या आश्चर्य, ऐसा साम्राज्य अत्यन्त प्रकाशमान होने पर भी कुछ समय बाद अस्त हो जाय।" इसके सम्बन्ध में हमारा मत यह है कि उस समय की संस्कृति के अनुसार शूद्रों के प्रति ऐसा व्यवहार करना कोई दोष नहीं माना जाता था, शूद्रों में इतनी जागृति, ज्ञान या चैतन्य नहीं हुआ था कि वे संगठित होकर ऐसे साम्राज्य के प्रति विद्रोह करते। उन्हें तथा अन्य मनीषी सज्जनों को भी शास्त्र के विरुद्ध कुछ कहने-सुनने का विचार नहीं होता था। अतः ऐसी बात-व्यवहार का साम्राज्य के अस्तित्व पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ा मालूम होता। तथापि यह स्पष्ट है कि शासकों में वर्ण भेद का भाव आ गया था। ब्राह्मणों को ऊँचा और दूसरों को नीचा वर्ग समझा जाने लगा था। मनुष्य मनुष्य का भेद साम्राज्यों की नैतिक दुर्बलता का ही कारण होता है। निदान, यह साम्राज्य की दुर्बलता की सूचना अवश्य थी, जिसका पीछे जाकर बढ़ना, और साम्राज्य के ह्रास में सहायक होना सर्वथा सम्भव है।

पाँचवाँ अध्याय

कृष्ण के समय का साम्राज्य

महाभारत की लड़ाई क्या थी? आर्य-जाति के बुरे कर्मों का दंड था, राजा और प्रजा के एकत्रित पाप मनुष्य रूप धारण करके कुरुक्षेत्र में इसलिए इकट्ठे हुए थे कि आर्यवर्त की विद्या, कला और कौशल में जो कुछ अच्छा हो, उसे मिट्टी में मिला दिया जाय।

—लाला लाजपत राय

यह समय द्वापर और कलियुग का संधि-काल था। यज्ञ आदि पुराने कर्मकांड सम्राटों के वैभव बढ़ाने के साधन हो चुके थे। राजा और प्रजा सभी सम्पन्नावस्था में थे। धन-राशि ने अपने स्वभाव-सुलभ दुर्गुण—द्यूत-क्रीड़ा, मद्यपान, पर-स्त्री-अपहरण उत्पन्न किये, जो ईर्षा और युद्ध के जनक थे।

—युगुलकिशोर चतुर्वेदी

इस अध्याय में हम उस साम्राज्य का विचार करेंगे, जिस का सविस्तार वर्णन महाभारत नामक महाकाव्य में किया गया है, और जिसका अन्त महाभारत के युद्ध में हुआ। राम-साम्राज्य के बीच में अनेक पीढ़ियाँ बीत गयीं। इस समय देश में अनेक राजनीतिज्ञ, प्रतापी शासक और धुरन्धर विद्वान थे। तथापि इस समय को श्री कृष्ण जी का समय कहा जाना अनुचित न होगा। जैसा कि आगे बताया जायगा, ये महान लोक-

नायक थे, राज-पद धारण करते हुए भी समाट्-निर्माता थे। महाभारत के युद्ध में बड़े-बड़े महारथियों ने भाग लिया, पर उसके सूत्र-संचालक स्थान-स्थान पर कृष्ण जी दिखायी देते हैं; जिसे ये चाहते हैं वही विजय प्राप्त करता है; जिसे इनकी कृपा-दृष्टि प्राप्त नहीं, वह कहीं का नहीं रहता।

पिछले अध्याय में हमने राम के समय की झलक देखी। उसमें और श्रीकृष्ण जी के समय में कितना अन्तर हो गया था। अब वर्ण-व्यवस्था दृढ़ हो चली। गुण कर्म का विचार कम रह गया; वर्ण जन्म से माना जाने लगा। ब्राह्मण अधिकतर यज्ञ आदि धार्मिक कृत्यों में व्यस्त रहने लगे। राज्य करना, क्षत्रियों का काम रह गया। उन पर ब्राह्मणों का नियंत्रण कम हो गया। इसलिए क्षत्रियों का प्रभुत्व बढ़ जाना स्वाभाविक था। नियम तो अब भी यही था कि राजा अपने मंत्रिमंडल तथा प्रजा की सम्मति से राज्य करे, पर अब राजाओं में स्वेच्छाचारिता या खुदमुखत्यारी बढ़ रही थी। उनके विरुद्ध कोई बोलता न था। प्रत्येक राजा के पास अपनी-अपनी सेना थी। युद्ध-कला में भी उन्नति हो गयी थी। राज्याधिकार वंश-परम्परा के अनुसार था; हाँ, राज्याभिषेक से पूर्व प्रजा की सम्मति ली जाती थी। राजाओं में परस्पर फूट थी। प्रत्येक राजा स्वतन्त्र होने का इच्छुक था। उन्हें सम्राट् होने की भी धुन थी। सब अपने अपने स्वार्थ की ओर अधिक ध्यान देते थे।

राजा जैसे बने, अपनी शक्ति बढ़ाने के कूट प्रयत्न करते थे। वे व्यक्तिगत ऐश्वर्य और सुख-सम्पत्ति बढ़ाने में अपने कर्तव्य की

इति-श्री समझते थे। यह बात विशेषतया कंस, जरासंध, शिशुपाल और दुर्योधन आदि के सम्बन्ध में चरितार्थ होती है। ये सब साम्राज्यवादी तथा एकतन्त्र राज्य के समर्थक थे। इनके विपरीत, देश में प्रजातन्त्र शासनपद्धति के पोषक और उसे व्यवहार में लाने वालों के कई दल थे। इनके अग्रणियों में श्रीकृष्ण, सुभद्रबाहु आदि मुख्य थे। कहीं-कहीं कुछ नाग या तक्षक आदि नितान्त अराजकतावादी भी रहते थे; इनकी विशेष बल-वृद्धि, महाभारत युद्ध के बाद, हुई।

महाभारत-काल की स्थिति को यदि धार्मिक आवरण हटा कर, राजनैतिक दृष्टि से देखा जाय तो यहाँ उस समय साम्राज्यवादियों और प्रजातन्त्रवादियों का विकट संघर्ष था। श्रीकृष्णजी के व्यवहार से मालूम होता है कि उन्होंने अपनी कुशाग्र बुद्धि या कुशल नीति से अन्ततः यह निश्चय किया कि विविध अत्याचारी राजाओं का विनाश करके एकमात्र विशाल साम्राज्य स्थापित किया जाय, जिसमें नीति और न्याय-पूर्वक शासन हो। प्रमुख अत्याचारी शासकों में कंस इनका मामा ही था। उसकी क्रूरता का इन्हें अपनी बाल्यावस्था से ही ज्ञान था। उसे इन्होंने स्वयं मारा। उसकी जगह उसके पिता उग्रसेन को गद्दी पर बैठाया गया, जिसे कंस ने राजगद्दी से उतार रखा था।

अब इस समय के मुख्य साम्राज्य की बात लीजिए। महाभारत कथा सर्व विदित है। संक्षेप में, चन्द्रवंशी राजा शान्तनु के तीन पुत्र थे; उनमें से भीष्म ने राज्य न लेने, तथा आजन्म

ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा की; चित्रांगद लड़ाई में मारा गया, तीसरा विचित्रवीर्य, शान्तनु के बाद राजा हुआ। इसके दो पुत्र थे, उनमें से बड़ा धृतराष्ट्र अन्धा था, इसलिए विचित्र वीर्य के बाद राज्य-कार्य छोटा पुत्र पाँडु करता था। राजधानी हस्तिनापुर थी। धृतराष्ट्र के सौ पुत्र थे, ये कौरव कहलाते थे। सबसे बड़े का नाम दुर्योधन था। पांडु के पाँच पुत्र थे—युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव। इन्हें पाँडव कहा जाता था। कौरवों और पांडवों में ईर्षा और द्वेष था। बड़े होने पर दुर्योधन अपने को एकमात्र राज्याधिकारी मानता था, तो पांडव भी राजगद्दी के दावेदार बनते थे। धृतराष्ट्र ने पांडवों को खांडव बन में रहने का आदेश किया। वहाँ रहते हुए पांडवों ने क्रमशः इस बन की जंगली जातियों को हरा कर, और जंगल को साफ करके नगर बसाये। दिल्ली के पास, इन्द्रप्रस्थ राजधानी बनायी गयी। यहाँ पर मय नामक एक शिल्पी ने अपनी अद्भुत कुशलता से एक महल बनाया, जिससे पांडवों के वैभव का ही नहीं, तत्कालीन सभ्यता और निर्माण कला की उन्नति का भी अच्छा परिचय मिलता था।

जब पांडवों का राज्य बहुत उन्नत हो गया तो युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ का विचार होने लगा। युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण से पूछा कि मैं इस यज्ञ को करने का अधिकारी हूँ या नहीं। कृष्ण जी ने उत्तर दिया कि "प्रचलित रीति के अनुसार मगध के राजा जरासंध ने, सबसे बलवान होने के कारण, सम्राट् पदवी धारण कर रखी है, सब राजा उसका आतंक मानते हैं, और

उसे कर आदि देते हैं। वह बहुत स्वेच्छाचारी और अत्याचारी है। उसने बहुत से राजा महाराजाओं को कैद कर रखा है। उसी के भय से हमें अपना प्रदेश (मथुरा) छोड़कर द्वारका जाना पड़ा। राजसूय यज्ञ वही कर सकता है, जो चक्रवर्ती हो, जिसका कोई प्रतिद्वन्द्वी न हो। आप इसके योग्य अवश्य हैं, पर पहले जरासंध को पराजित करके, बन्दी राजाओं को मुक्त कीजिए। उसके ऐसे प्रतापी बने रहने की दशा में आप यह यज्ञ कैसे कर सकते हैं ?" अस्तु बहुत विचार-विमर्श के बाद जरासंध को परास्त करने का निश्चय हुआ। अर्जुन, भीम और कृष्ण जरासंध के दरबार में गये, और उसको मल्लयुद्ध करने के लिए सहमत कर लिया। उसने भीम से मुकाबिला किया, जिसमें वह मारा गया। इस पर सब बन्दी राजाओं को मुक्त किया गया, और जरासंध का पुत्र सहदेव मगध की राजगद्दी पर बैठाया गया।

अब युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ की तैयारियाँ होने लगीं। इस अवसर पर चेदी (जबलपुर) के राजा शिशुपाल ने बहुत दुर्व्यवहार किया। आखिर उसे श्रीकृष्ण ने मार डाला। उसके स्थान पर उसके पुत्र को राजतिलक दिया गया। इस प्रकार कंस, जरासंध और शिशुपाल तीनों अन्यायी और अत्याचारियों का अन्त उनके ही दुर्गुणों द्वारा हो गया। इससे पाडवों की कीर्ति सर्वत्र फैल गयी। दुर्योधन को यह अच्छा न लगा, उसने उन्हें जुए के लिए आमंत्रित किया, उसमें पांडव सब राजपाट खो बैठे, यहाँ तक कि द्रौपदी को भी हार गये। इस पर धृतराष्ट्र के निर्णय

के अनुसार पांडवों को बारह वर्ष का वनवास, और एक वर्ष का अज्ञातवास करना पड़ा। तेरह वर्ष बिता कर पांडवों ने फिर कौरवों से राज्य माँगा, परन्तु उन्हें कोरा जवाब मिला। इस पर परस्पर में युद्ध छिड़ने की बात होने लगी। आरम्भ में प्रत्येक पक्ष ने दूसरे के पास दूत भेज कर संधि करनी चाही। पांडवों की ओर से स्वयं कृष्ण जी दूत बन कर कौरवों के यहाँ गये और उन्हें युद्ध की हानि समझाते हुए कहा कि वे पाँडवों को पाँच गाँव दे दें, और उनसे संधि कर लें। परन्तु दुर्योधन किसी प्रकार न माना। अन्त में, दोनों पक्ष में युद्ध होना अनिवार्य हो गया।

उस समय प्रत्येक राजा सम्राट् के प्रति वफादार रहना, उसकी जन धन से, तथा स्वयं जी-जान से सहायता करना अपना कर्तव्य समझता था; और कानूनी बन्धन या दबाव न होते हुए भी उसका भली भाँति पालन करता था। परन्तु सम्राट् के नीति भ्रष्ट होने और उसके परिवार में गृह-कलह की अग्नि प्रज्वलित हो जाने से राजाओं के लिए दो पक्षों में एक-न एक की तरफ से युद्ध में भाग लेना आवश्यक हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि गृह-कलह महाभारत में परिणत हो गया।

युद्ध की तैयारी हो रही थी। भावी हत्याकांड, और प्रिय जनों के वियोग की कल्पना कर अर्जुन को वैराग्य हो गया। वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो सोचने लगा कि मैं लड़ूँ या न लड़ूँ। उसने हथियार डाल दिये। इस पर श्रीकृष्ण ने उस निष्काम कर्म की

शिक्षा दी,* फिर तो अर्जुन ने वीरता-पूर्वक युद्ध में भाग लिया।

प्रलय का दृश्य उपस्थित करनेवाला घोर संहारकारी युद्ध हुआ। इसे सर्वसाधारण हिन्दू जनता 'धर्म-युद्ध' के नाम से सम्बोधित करती है। निस्संदेह उसमें कुछ बातें प्रशंसनीय हैं, यथा रात्रि में युद्ध बन्द रहना, अपने विपक्षियों के भी कुशल-क्षेम का समाचार लेना तथा उनकी सेवा सुश्रूषा करना, और निरस्त्र व्यक्ति से न लड़ना आदि। परन्तु युद्ध आखिर युद्ध ही है। हमें इसमें आक्षेप-योग्य बातों का अभाव नहीं मिलता। कौरवों का अभिमन्यु-बध तो प्रसिद्ध ही है, जिसमें कई महारथियों ने मिलकर एक युवक राजकुमार का नीति-विरुद्ध घात किया; पर पाँडवों की ओर से भीष्म, द्रोण, तथा कर्ण का परास्त और बध करने में जो नीति काम में लायी गयी, वह भी 'धर्म-युद्ध' के योग्य नहीं कही जा सकती।

इस 'धर्म-युद्ध' का क्या परिणाम हुआ? दोनों पक्ष की सेना तत्कालीन गणना के अनुसार अठारह अक्षौहिणी* थी; अर्थात् कुल मिलाकर लगभग साठ लाख आदमी रणक्षेत्र में आये थे। युद्ध के बाद इनमें से पाँच पांडव और अश्वत्थामा,

---

*इस उपदेश की पुस्तक संसार के सर्व-श्रेष्ठ साहित्य में स्थान पाने-वाली श्रीमद्भगवद्गीता है, जिसे साधारण बोल-चाल में गीता कहते हैं। यह महाभारत महाकाव्य का एक अंश है।

*ज्ञात होता है कि एक अक्षौहिणी में २१,८७० रथ, २१८७० हाथी, १,०६,३५० पैदल तथा ६५,६१० घोड़े हुआ करते थे। रथों में सारथी के अतिरिक्त, दो योद्धा, और हाथी पर महावत के अतिरिक्त, तीन सैनिक और बैठते थे।

कृपाचार्य, कृतवर्मा आदि केवल दस आदमी कुरुक्षेत्र के विशाल श्मशान को देखने वाले रहे। और रह गया, अनेक मा-बहिनों का अपना पुत्रों और भाइयों के विछोह में होनेवाला करुण क्रन्दन, तथा असंख्य विधवाओं का शोक-विलाप. जो वज्र-हृदय कृष्ण जैसे गम्भीर व्यक्ति को भी रुला देनेवाला था। जनता की सुख शान्ति विलुप्त हो गयी। ज्ञानवानों और कर्मवीरों का दिवाला निकल गया। कायरों और दुष्टों की भरमार हो गयी।

उस समय की बड़ी शक्तियों में से कौरवों का महाभारत युद्ध में मानों अन्त ही हो गया। कहा जाता है कि युद्ध के बाद पाँडव विजयी होने पर भी, शोक-निमग्न होने के कारण, हिमालय में जाकर परलोक सिधारे। यह भी सम्भव है कि इस समय महाभारत-युद्ध के परिणाम स्वरूप जो, सामाजिक और धार्मिक के अतिरिक्त, राजनैतिक क्रान्ति हुई, उससे भी पांडवों को हस्तिनापुर छोड़ जाना ही उचित प्रतीत हुआ। दूसरी प्रबल शक्ति यादवों की थी ये विलासिता और मद्यपान में निमग्न थे। गृह-कलह ने इन्हें भी कहीं का न छोड़ा। राजनीति-धुरन्धर कृष्ण जी के परलोकवास के बाद चारों ओर अराजकता छा गयी। पांडवों को हस्तिनापुर और यादवों को द्वारिका छोड़नी पड़ी; वे क्रमशः अफगानिस्तान, ईरान, अरब, तुर्किस्तान और मंगोलिया आदि में फैल गये।

अब हम विचार करें कि इस महान चन्द्रवंशी साम्राज्य का अन्त क्यों हुआ; वह कहाँ तक स्वयं ही उसके लिए उत्तरदायी है? ऐसे साम्राज्यों का मुख्य आधार प्रधान शासक होते हैं,

परन्तु यहाँ तो प्रमुख सूत्रधार घातक गृह-कलह से ग्रस्त थे, उन्हें एक-दूसरे के खून का प्यासा कहा जा सकता है। दुर्योधन के व्यवहार पर दृष्टिपात करें। वह अपने भाई पांडवों को कैसे-कैसे कष्ट देता है। वह उन्हें घर में सोते हुओं को जलाने का प्रयत्न करता है। वह उन्हें जुआ खेलने के लिए आमंत्रित करता है, और छल-कपट से उन्हें हराता है, द्रोपदी का भरी सभा में अपमान करता है, और, पीछे पांडवों को जंगल में रहने के लिए भेजता है। फिर, दुर्योधन अकेला ही पतित नहीं है। उसके सहायक, परामर्शदाता आदि सब उसके अनुरूप हैं। उसके भाई, सम्बन्धी और मित्र उनका साथ देते हैं। उसका पिता भी उसकी अनीति को चुपचाप सहन करता है, और उसे सन्मार्ग पर लाने का कटु-कर्तव्य पालन नहीं करता। और तो और, भीष्म जैसे राजनीतिज्ञ भी उसका विरोध करने में अपनी असमर्थता का अनुभव करते हैं। द्रोणाचार्य और अश्वत्थामा आदि में भी उसका नियंत्रण करने का साहस न हुआ। समस्त सत्ताधारी क्षत्री और तेजस्वी ब्राह्मण इस प्रकार अन्याय को सहन करें, कैसा घोर पतन है! वृहद् जन मंडली में केवल एक श्रीकृष्ण जी ही आगे बढ़ कर अपना कठोर कर्तव्य पूरा करते हैं, वे दुर्योधन को समय रहते सावधान करते हैं, उसे उसका कर्तव्य बतलाते हैं, और युद्ध-निवारण का भरसक प्रयत्न करते हैं। परन्तु विकार-ग्रस्त वातावरण के कारण उन्हें सफलता नहीं मिलती।

प्रायः आदमी विजयी पांडवों को 'धर्मावतार' और पराजित

कौरवों को पापी या दुराचारी कहा करते हैं। परन्तु वह तो वही बात हुई कि 'समर्थ को नहीं दोष गुसाईं। विजेताओं के सब अपराध क्षमा, और दुर्गणों का सब भार पराजितों पर! अस्तु, हम पांडवों को सर्वथा 'दूध-का-धुला' मानने को तैयार नहीं है, यद्यपि कृष्ण जी के सहयोग ने उन्हें श्रद्धास्पद बना दिया है। प्रथम तो यहा विचारणीय है कि वे कहाँ तक राज्य के उत्तराधिकारी थे। धृतराष्ट्र के अंधा होने से पांडु को राज्य करने का अवसर मिल गया, तो क्या धृतराष्ट्र के पुत्रों का, पीछे भी कुछ राज्यधिकार न रहा? और, जब दुर्योधन ज्येष्ठ होने से अपने आपको उत्तराधिकारी मानता है तो अपने प्रतिद्वन्दी पांडवों के प्रति उसके मन में दुर्भाव होना स्वाभाविक ही है। ऐसे व्यक्ति या उसके साथियों से जुआ खेलना, और उसमें अपने आप को तथा द्रौपदी को दाव पर रख कर उसकी अधीनता में जाने का अवसर देना, क्या युधिष्ठिर के लिए कुछ बुद्धिमत्ता की बात कही जा सकती है? माना कि उस समय जुआ खेलने की चुनौती को स्वीकार करने की रीति थी, पर युधिष्ठिर इस घातक रूढ़ि को तोड़ देते तो क्या सर्व-साधारण के सामने एक अच्छा उदाहरण उपस्थित न होता!

निस्सन्देह जब पांडव अपने लिए दुर्योधन से पाँच गाँव माँगते हैं तो उसका कोरा जवाब देना दर्प-सूचक है। परन्तु किसी राजा का अपने विपक्षी को पड़ोस में रहने देना एक राजनैतिक भूल होती है। फिर, तत्कालीन परिस्थिति में राज्यों का क्षेत्र प्रायः यही होता था कि बीच में एक राजधानी हो,

और उसके चारों ओर थोड़ी-सी भूमि और हो। अपने प्रति-द्वन्दियों को पाँच गाँव, जिनमें इन्द्रप्रस्थ जैसी राजधानी भी सम्मिलित हो, दे देने की हानि को कूटनीतिज्ञ दुर्योधन भली-भाँति समझता था। अतः उसका उत्तर नीति या धर्म की दृष्टि से चाहे जैसा हो, वह राजनीति के विचार से अनुपयुक्त नहीं कहा जा सकता; और चाहे युधिष्ठिर धर्मराज बनना पसन्द करता हो, दुर्योधन तो राजनीतिज्ञ ही रह कर संतुष्ट था; भले ही दूसरों की दृष्टि में उसकी राजनीति कुटिल प्रतीत हो।

फिर, इस कथन में भी कुछ विशेष सार नहीं है कि युधिष्टिर का राज्य 'धर्म राज्य' था और दुर्योधन का 'पाप-राज्य'। इस बात का स्पष्ट परिचय मिलता है कि पांडवों के बनवास के समय के शासन में प्रजा सुखी, समृद्ध और संतुष्ट रही। उसके लिए कोई होऊ नृप, हमें का हानि की बात थी। दुर्योधन गद्दी पर रहा तो क्या, और युधिष्ठिर को राज्य मिल गया तो क्या! हम देखते हैं कि तेरह वर्ष के बाद आकर जब पांडव, राज्य अथवा उस के कुछ अंश पर, अपना अधिकार जताते हैं, तो अधिकाँश प्रजा इनका साथ न देकर कौरवों के पक्ष में ही रहती है, बड़े-बड़े महारथी भी कौरव दल से सम्बन्ध-विच्छेद न करके, उसकी ही ओर से लड़ते हैं।

अस्तु, कुछ कम-ज्यादह, कौरव और पांडव दोनों ही पक्षों की बातें चिन्तनीय थीं। दोनों में ही कुछ दुर्गुण थे। इन दुर्गुणों में गृह-कलह का संयोग हो गया। इससे साम्राज्य का क्षय और पतन अनिवार्य हो गया, और यह होकर रहा।

छठा अध्याय

मौर्य साम्राज्य

"दो हजार से अधिक वर्ष हुए, भारत के प्रथम सम्राट् ने वह वैज्ञानिक सीमा प्राप्त कर ली थी, जिसके लिए उसके ब्रिटिश उत्तराधिकारी व्यर्थ में आह भरते हैं, और जिसे सोलवीं और सतरहवीं शताब्दी के मुगल सम्राटों ने भी पूर्णतया प्राप्त नहीं किया था।

—*वी. ए. स्मिथ*

हमारे पुत्र पौत्रगण नया देश जीतने की कभी इच्छा न करेंगे। अगर उन्हें कभी देश-विजय की प्रवृत्ति हो तो शान्ति और नम्रता का आनन्द अनुभव करें, और धर्म-विजय को ही यथार्थ विजय समझें, क्योंकि इससे इह-काल और पर-काल दोनों में सुख होगा।

—*अशोक का शिला-लेख*

हमारे रामायण-काल और महाभारत-काल के वैभव की साक्षी तो प्रायः हमारे ही ग्रन्थ हैं, पर सम्राट् चन्द्रगुप्त और अशोक के साम्राज्यों की सुव्यवस्था तथा तत्कालीन जनता की सुख-समृद्धि की प्रशंसा तो विदेशियों ने भी मुक्त कंठ से की है। कुछ समय पहले तक इस विषय की जानकारी देने वाली सामग्री प्राप्त न थी। अब कौटलीय अर्थशास्त्र के मिल जाने से इस सम्बन्ध में क्रमबद्ध और प्रामाणिक वृत्तान्त मिल गया है। उसमें सब बातें ब्यौरेवार लिखी हैं। उसे देखकर पाश्चात्य

विद्वान भी भारतवर्ष के तत्कालीन उत्कर्ष पर चकित होते हैं। पहले वे इस बात की कल्पना नहीं कर सकते थे कि धार्मिक तथा आध्यात्मिक उन्नति में लगा हुआ भारत कभी भौतिक या आर्थिक क्षेत्र में भी इतना बढ़ा-चढ़ा होगा, विशेषतया उस समय जब कि अनेक पाश्चात्य राष्ट्रों का जन्म ही नहीं हुआ था, और आधुनिक 'सभ्य' जातियों के पूर्वज निरा जंगली जीवन बिता रहे थे। अस्तु, अब इसमें कोई सन्देह नहीं रहा कि चन्द्रगुप्त का राज्य धन-धान्य से तो धनी था ही, नगर-निर्माण, सैन्य-संचालन, दुर्ग-निर्माण, कृषि, आबपासी, मनुष्य-गणना, आदि अनेक कार्यों में भी कोई इसकी बराबरी नहीं कर सकता था।

स्मरण रहे कि इस समय साम्राज्य के आदर्श में बहुत परिवर्तन हो गया था। महाभारत काल तक यहाँ अनेक स्वतंत्र छोटे-छोटे राष्ट्रीय राज्य विद्यमान थे। सम्राट् उन स्वतन्त्र राजाओं में से एक प्रमुख प्रतापी राजा होता था, उसका पराजित राजाओं से केवल कर या भेंट लेने का नाम-मात्र का सबंध होता था। परन्तु अब यह बात न रही थी। अब तो सम्राट् अपने अधीन राजाओं पर नियंत्रण करने लगा, उनके प्रदेशों में अपने कायदे-कानून और अपना शासन चलाने लगा, राजवंश के अधिकारियों को हटाकर वहाँ अपनी ओर से एक-एक प्रांतीय शासक नियुक्त करने लगा। निदान, साम्राज्यों का आकार बड़ा होने लगा, उनका आधार जातीय एकता न रहा, वरन् एक-एक राज्य में अनेक जातियाँ रहने लगीं।

राज्य के लिए जाति की अपेक्षा प्रदेश का महत्व अधिक हो गया। यह क्रिया ईसा से तीन सौ वर्ष पूर्व तक बड़ी तीव्र गति से होती रही, यहाँ तक कि राज्य का आदर्श अब अखिल भारत-वर्षीय राज्य माना जाने लगा।

साम्राज्य सम्बन्धी आदर्श के इस परिवर्तन का एक कारण बौद्ध धर्म का आविर्भाव और प्रचार है। बौद्ध धर्म की शक्तियाँ उसे अधिक-से-अधिक क्षेत्र में फैलाने के लिए कटिबद्ध थीं। यह धर्म किसी भी सीमा में परिमित रहना नहीं चाहता था। यह अपना 'चक्रवर्तित्व' स्थापित करने के प्रयत्न में सफल भी हो रहा था। भारतवर्ष में तो यह राज-धर्म हो ही गया था। इसके अतिरिक्त, यह धर्म इस देश की सीमा को पार कर पूर्व पश्चिम के अनेक देशों में (ईरान, मिश्र, यूनान, तिब्बत, चीन और वर्मा तथा लँका तक) अपनी पताका फहरा रहा था। इस बात का प्रभाव प्रबल प्रतापी शासकों पर पड़े बिना नहीं रह सकता था।

इस सम्बन्ध में यह बात भी स्मरण रखने की है कि बौद्ध धर्मानुयायी शासक आदि की दृष्टि में वैदिक साहित्य कुछ आदर की वस्तु न था। वे वैदिक मतानुयाइयों की कितनी ही क्रियाओं का प्रत्यक्ष खंडन करते थे। फल-स्वरूप उन्होंने उस वैदिक व्यवस्था की भी नितान्त अवहेलना की, जिसके अनुसार राजा की शक्ति परिमित रहती थी, और वह 'समिति' से नियंत्रित रहता था। अब शासक कुछ निरंकुश सत्ताधारी होने लगे, और शासन-कार्य में केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। यह

ठीक है कि मौर्य साम्राज्य में, तथा उसके पीछे भी बहुत समय तक, प्राचीन राजनैतिक संस्थाओं का अस्तित्व बना रहा; यही नहीं, स्थानीय स्वराज्य-संस्थाओं की खूब बल-वृद्धि भी हुई; पर इसका कारण यही है कि समाज या सर्व साधारण से सम्बन्धित परिवर्तन धीरे-धीरे ही हुआ करते हैं।

मौर्य साम्राज्य की स्थापना से पूर्व यहाँ विभिन्न प्रकार की शासन-पद्धति वाले कितने ही राष्ट्र थे। इनके आपस में लड़ाई झगड़े होते थे। कालान्तर में मगध, कौशल, वत्स और अवन्ती ये चार राजतन्त्र, और कुछ प्रजातंत्र राष्ट्र रह गये। जब राजतंत्र राष्ट्रों ने अपनी शक्ति बढ़ाना एवं अपना अपना साम्राज्य स्थापित करना चाहा तो हर एक के सामने, एक दूसरे को विध्वंस करने के अतिरिक्त, इन प्रजातंत्र राज्यों को भी नष्ट करने का कार्य था। अन्त में मगध के राजा नन्द को इस कार्य में बहुत कुछ सफलता मिली। उसका साम्राज्य बना; हाँ, उसमें समस्त भारत तो क्या सारा उत्तरी भारत भी न था। उसके बाद सुप्रसिद्ध प्रतापी चन्द्रगुप्त ने साम्राज्य का निर्माण किया। पहले उसने सिकन्दर द्वारा जीते हुए प्रदेशों को अपने अधीन किया, पीछे क्रमशः अन्य विविध राज्यों को जीतकर उसने, आचार्य कौटिल्य की सहायता से, मगध के साम्राज्य को खूब बढ़ाया। इस सम्राट् के बाद ई० पू० सन् २९८ में, इसका पुत्र विन्दुसार गद्दी पर बैठा। इसने दक्षिण प्रान्तों को विजय किया। सम्राट् चन्द्रगुप्त की तरह विन्दुसार के शासन-काल में भी भारतवर्ष का विदेशियों से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा; सुदूर पश्चिमी एशिया के

शासकों की ओर से पाटलीपुत्र में राजदूत रहता था। इन बातों से प्रकट है कि सम्राट् बिन्दुसार भी बड़ा प्रतापी और शक्तिशाली रहा। इस सम्राट् के समय में, राज्य के पश्चिमोत्तर भाग में कश्मीर, पंजाब, और सिंधुनदी के पश्चिमी प्रदेश थे। इस भाग की राजधानी तत्कालीन सुप्रसिद्ध विद्या केन्द्र तक्षशिला थी। पश्चिमी भारत की राजधानी उज्जैन थी, यह भी काफी प्रसिद्ध थी।

सम्राट् बिन्दुसार का देहान्त ई० पू० २७२ में हुआ; पश्चात् अपने बड़े भाई सुसीम (या सुमन) को परास्त करके अशोक ने राज-सिंहासन प्राप्त किया। यह बिन्दुसार के समय में तक्षशिला का प्रान्तीय शासक रह चुका था, इसलिए इसे शासन-कार्य का अच्छा अनुभव था। इसका शासन-प्रबन्ध बहुत उत्तम था। ई० पू० सन् २६१ में घोर युद्ध के बाद इस सम्राट् ने कलिङ्ग विजय किया। एक शिला-लेख से मालूम होता है कि इस युद्ध में लगभग डेढ़ लाख आदमी कैद किये गये, एक लाख मारे गये, और महामारी आदि से मरने वाले तो बेशुमार ही थे। सम्राट् पहले से बौद्ध धर्म की ओर कुछ झुक रहा था, उसकी प्रवृत्ति अहिंसा की ओर थी कलिंग की 'विजय' में, लोगों का संहार और कष्ट देखकर उसका हृदय द्रवित हो गया।

उसने खुले शब्दों में पश्चाताप और दुख प्रकट किया। उसके उपर्युक्त शिलालेख (के अनुवाद) का वह अंश बहुत विचारणीय है, जिसमें कहा गया है:—"कलिंग को जीतने पर

'देवताओं के प्यारे'* को बड़ा पश्चाताप हुआ, क्योंकि जिस देश का पहले विजय नहीं हुआ है, उसका विजय होने पर लोगों की हत्या या मृत्यु अवश्य होती है; और न जाने कितने आदमी कैद किये जाते हैं। देवताओं के प्यारे को इससे बहुत दुःख और खेद हुआ। देवताओं के प्यारे को इससे और भी दुःख हुआ कि वहाँ ब्राह्मण श्रमण तथा अन्य समुदाय के मनुष्य और गृहस्थ रहते हैं, जिन में ब्राह्मणों की सेवा माता पिता की सेवा, गुरुओं की सेवा, मित्र परिचित सहायक जाति दास और सेवकों के प्रति अच्छा-व्यवहार किया जाता है, और जो दृढ़ भक्ति युक्त होते हैं। ऐसे लोगों का वहाँ विनाश, बध, या प्रियजनों से बलात् वियोग होता है। अथवा, जो स्वयं तो सुरक्षित होते हैं, पर जिन के मित्र, परिचित, सहायक और सम्बन्धी विपत्ति में पड़ जाते हैं, उन्हें भी अत्यन्त स्नेह के कारण बड़ी पीड़ा होती है। यह सब विपत्ति वहाँ प्रायः हर एक मनुष्य के हिस्से में पड़ती है, इससे देवताओं के प्यारे को विशेष दुख होता है; क्योंकि ऐसा कोई देश नहीं है, जहाँ अनन्त सम्प्रदाय न हों, और उन सम्प्रदायों में ब्राह्मण और श्रमण (विभक्त) न हों; और, कोइ देश ऐसा नहीं है, जहाँ मनुष्य एक न-एक सम्प्रदाय को न मानते हों। कलिंग देश के विषय में उस समय जितने आदमी मारे गये, मरे या कैद हुए उनके सौवें या हजारवें हिस्से

---

*अशोक को तत्कालीन लेखकों ने प्रायः दो पदवियां दी हैं—'देवानाम् प्रिय' (देवताओं का प्यारा) और 'प्रियदर्शी' (सुन्दर स्वरूप वाला)।

का नाश भी अब देवताओं के प्यारे को बड़े दुख का कारण होगा।" सेनापतियों, सम्राटों और विजेताओं के लिए उनके ही एक बन्धु के ये शब्द कितने शिक्षाप्रद हैं!

अस्तु, कलिंग उस समय एक बहुत शक्तिशाली राज्य था, इसकी विजय के बाद मौर्य साम्राज्य की शक्ति और विस्तार खूब बढ़ गया। अशोक का राज्य अब कृष्णा नदी के दक्षिण में द्राविड़ों के चेरा, चोल, और पाँड्य राज्य को छोड़ कर समस्त भारतवर्ष भर में था। उत्तर में कश्मीर, नेपाल अफगानिस्थान तक इसमें सम्मिलित थे; पश्चिमी प्रांत विलोचिस्थान, सिन्ध और गुजरात थे; पूर्व में कलिंग और बंगाल तक तथा दक्षिण में मैसूर तक इसी साम्राज्य के अन्तर्गत थे। साम्राज्य के समस्त प्रदेशों पर सम्राट् का प्रत्यक्ष और सीधा शासन न था। कई प्रदेशों के निवासी अपने आन्तरिक अथवा स्थानीय राज्य-प्रबन्ध में थोड़े-बहुत स्वतन्त्र भी थे।

अशोक का यह साम्राज्य काफी विशाल था। परन्तु इससे कहीं अधिक विस्तार था, उसकी धर्म-विजय का; अशोक ने खासकर कलिंग-विजय के बाद अनुभव किया कि भौतिक विजय से बढ़कर आत्मिक विजय है, और उसके लिए शस्त्रों का प्रयोग सफल नहीं हो सकता; उसके वास्ते तो धर्म का साधन चाहिए। अशोक के समय के शिला लेखों से उसके विचार, नियम और नीति आदि का अच्छा और प्रामाणिक परिचय मिलता है। अशोक ने यह भली भाँति स्पष्ट कर दिया कि धर्म से उसका अभिप्राय क्या है। एक शिला-लेख बतलाता है 'कि धर्म यह है

कि दास और सेवकों से उचित व्यवहार किया जाय; माता-पिता की सेवा की जाय; मित्र, परिचित, सम्बन्धी, श्रमण और ब्राह्मणों को दान दिया जाय; और प्राणियों की हिंसा न की जाय।' अशोक सब सम्प्रदायों में मेल और प्रेम करता था। वह सब के प्रति उदार, सहिष्णु और दयालु था। उसने स्थान-स्थान पर कुएँ, प्याऊ, बगीचे धर्मशाला, औषधालय तथा अनाथालय बनवाये थे।

सम्राट् अशोक की नीति और कार्यों में बौद्ध धर्म की शिक्षा का गहरा प्रभाव था। उसने इस धर्म को कलिंग-विजय के पश्चात् ग्रहण किया था। उसका शासन अपने क्षेत्र की जनता के लिए विलक्षण वरदान था। उसने अपनी प्रजा में सुख-शांति कला-कौशल, शिक्षा, स्वास्थ्य और प्रेम-व्यवहार आदि की वृद्धि करना अपना कर्तव्य समझा, और इसमें उसे बहुत-कुछ सफलता हुई।

सम्राट् अशोक के समय में मौर्य साम्राज्य का सूर्य मध्याह्न में था। फिर तो यह क्रमशः अस्ताचल को चला। उसके उत्तराधिकारी पुत्र कुणाल या सुयश (ई० पू० २३२-२४) के समय में कश्मीर और आन्ध्र प्रदेश साम्राज्य से स्वतन्त्र हो गये। पश्चात् दशरथ के शासन-काल में कलिंग ने स्वतन्त्रता प्राप्तकर ली। दशरथ का, और उसके बाद सम्प्रति (चन्द्रगुप्त द्वितीय) का, थोड़े-थोड़े समय शासन रहा। तदनन्तर शालिशुक गद्दी पर बैठा, इसने केवल एक ही वर्ष (ई० पू० २०७-२०६) राज्य किया था। इसके समय में एक ओर गृह-कलह ने साम्राज्य को क्षीण किया, दूसरी

ओर इसके अत्याचारों ने उसके पतन में सहायता की। इसी समय से साम्राज्य पर पुनः यूनानी आदि विदेशियों के आक्रमण हुए, और यद्यपि वे जल्दी ही भारत से लौट गये, पर साम्राज्य काफी निर्बल हो गया, जगह-जगह स्वतंत्र राज्यों की स्थापना हो गयी। मौर्य वंश का अन्तिम सम्राट् बृहद्रथ (ई० पू० सन् १९१-१८४) हुआ सेनापति पुष्यमित्र ने इस निर्बल सम्राट् को मार कर, अस्ताचल की ओर जाने वाले मौर्य साम्राज्य का अन्त कर दिया। यह सेनापति शुँग वंश का था, अतः अब से मौर्य साम्राज्य का उत्तराधिकारी शुँग साम्राज्य हो गया।

मौर्य साम्राज्य की कीर्ति आज दिन कुछ शिला-लेखों में सुरक्षित है। अपने समय में वह अद्वितीय था। पर राज्य के स्थूल वैभव और विस्तार की अपेक्षा उसके आध्यात्मिक कार्य का महत्व और भी अधिक है। इस दृष्टि से संसार भर के इतिहास में मौर्य साम्राज्य का अपना विशेष स्थान है। अन्य साम्राज्यों ने कहने को तो सभ्यता-प्रचार का दम भरा, पर वास्तव में अधिकांश ने अपनी बहुत-सी शक्ति नर-संहार, दमन, शोषण और पर-पीडन में लगा कर, जैसे-बना अपने देश को, अथवा उसके भी केवल थोड़े से आदमियों को ऐश्वर्य और विलासिता के साधनों से सुसज्जित करने में लगायी। मौर्य साम्राज्य ही अशोक के समान ऐसे सम्राट् का अभिमान कर सकता है, जिसने भारी सेना और सामग्री होते हुए भी भौतिक विजय करना अपनी शान के खिलाफ़ समझा, जिसने अपनी शक्ति का उपयोग दूर-दूर की जनता में वास्तविक धर्म और सभ्यता का

प्रचार करने में किया। अशोक के प्रचारक लोगों को किसी सम्प्रदाय विशेष की शिक्षा देने अथवा उसके अनुयाइयों की संख्या बढ़ाने नहीं गये; उनका उपदेश यही होता था कि परस्पर प्रेम से रहो, सत्य और अहिंसा का पालन करो, अपने जीवन का उद्देश्य दूसरों की सुख-शांति बढ़ाना समझो। संसार के अन्य किस साम्राज्य ने शस्त्र-सन्यास लिया, और ऐसे प्रेम-धर्म का प्रचार किया?

फिर संसार के प्रायः समस्त साम्राज्यों और सभ्यताओं का आधार गुलामी या दासता की प्रथा रही है; अवश्य ही गुलामी का रूप देश-काल के अनुसार बदलता रहा है। सभ्यता का गर्व करने वाले मिश्र, यूनान और रोम इसका अन्त करने का साहस न कर सके। क्या यह कुछ कम महत्व की बात है कि मौर्य साम्राज्य के सूत्रधार कौटिल्य ने इसका सर्वथा विरोध किया; वह भी मौखिक ही नहीं, क्रियात्मक रूप। उसने घोषणा कि कि 'आर्य कभी दास नहीं हो सकते'। कौटलीय अर्थशास्त्र में वे नियम विशद रूप से दिये गये हैं, जिनके अनुसार कार्य होने से दासों की वृद्धि पर कठोर प्रतिबंध लग गये, जो आदमी पहले से दास थे उनकी मुक्ति का रास्ता खुल गया, और जो दास रह भी गये तो उनकी दशा बहुत सुधर गयी, उनके सदाचार की रक्षा हो गयी. और इस प्रथा का प्रायः अंत ही हो गया। तभी तो यूनानी लेखकों और यात्रियों को यहाँ गुलामी का अभाव प्रतीत हुआ है। दासता का सहारा लिए बिना मौर्य साम्राज्य ने इतनी आर्थिक उन्नति की, यह बात अन्य उस

समय के साम्राज्यों के लिए आश्चर्यजनक थी, और पीछे के साम्राज्यों के लिए अनुकरणीय एवं शिक्षा-प्रद रही है।

अब इस साम्राज्य के पतन पर विचार करें। पतन का एक मुख्य कारण प्रजातन्त्र और गण-राज्यों का केन्द्रीय सत्ता से अलग और स्वतन्त्र रहने का भाव था। आचार्य कौटिल्य की नीति से इन्हें जैसे-तैसे वश में किया गया था, फिर भी उनमें बहुत-सों में स्वाधीनता का भाव मौजूद था। कुछ की पृथक् सत्ता तो साम्राज्य ने मान भी रखी थी। पीछे, जब न तो अशोक जैसे प्रतापी सम्राट् रहे, और न कौटिल्य जैसे महामंत्री, जब एक ओर गृह-कलह और दूसरी ओर बाहर वालों के आक्रमण हों, तो जिन राज्यों का वश चला, उनका साम्राज्य की अधीनता से मुक्त हो, अपने स्वतन्त्र अस्तित्व का प्रयत्न करना स्वाभाविक था।

पुनः अशोक के समय से यह साम्राज्य एक 'धार्मिक' साम्राज्य था। यह इसके लिए सौभाग्य की बात थी कि अशोक ने धर्म का अर्थ बहुत व्यापक और व्यावहारिक लिया था। उसे किसी सम्प्रदाय विशेष के प्रचार की धुन न थी। दूसरों से दयालुता का व्यवहार करना, दीन दुखी की सहायता करना, माता-पिता और गुरुजनों की सेवा करना, तथा सत्य और अहिन्सा आदि सद्गुण ही उसके धर्म के प्रधान अंग थे। और ऐसा धर्म तो साम्राज्य की विविध जातियों, सम्प्रदायों और वर्गों में पारस्परिक एकता की वृद्धि करता है। पर अशोक के बाद इस साम्राज्य के सूत्र-संचालक धर्म का संकीर्ण अर्थ

लगाने लगे। बौद्ध और जैन धर्म के कुछ खास लोगों का धर्म हो गया, और सम्राटों की इन्हीं पर कृपा-दृष्टि रहने लगी। इन धर्मों के प्रचार के लिए राज-कोष से असंख्य द्रव्य और शक्ति का व्यय किया जाने लगा। सम्राट् सम्प्रति ने तो सैनिकों तक से, साधु-वेश में धर्म-प्रचार का कार्य कराया। हृदय से धार्मिक न होने वाले सम्राट् भी धर्म का ढोंग रचने लगे। राज-धर्म और ब्राह्मण धर्म (हिन्दू धर्म) में समझौता न हो सका। बौद्ध धर्माचार्यों ने वेदों, वर्ण-व्यवस्था, और यज्ञों का विरोध किया। यह विरोध ब्राह्मणों के लिए असह्य था, उन्होंने बौद्ध धर्म के विरुद्ध जोर-शोर से प्रचार किया। फिर, बौद्ध-मठों के अधिकारियों और भिक्षुओं का जीवन बहुत आदर्श-हीन तथा पतित हो चला था। लोगों की बौद्ध-धर्म से श्रद्धा उठती गयी, और क्योंकि शासक उस धर्म के समर्थक थे, अतः वे भी जनता की दृष्टि में अप्रिय हो गये।

साम्राज्य में धर्म की भावना प्रबल थी। पीछे इस बात का प्रयत्न किया जाने लगा कि अधिक-से-अधिक आदमी बौद्ध धर्मके अनुयायी हों, बौद्ध धर्म को रीति, व्यवहार, और प्रथाओं को मानें और पालन करें। राज्य के अन्य आवश्यक कार्यों की उपेक्षा की जाने लगी। ऐसी बातों से राजनीति में शिथिलता आ गई। राज्य का स्वरूप ही बदल गया। राज्य के कर्मचारी धर्मोपदेशकों का कार्य करने लगे, और धर्माधिकारी राज्य-सूत्र-धार बन गये। अशोक के उत्तराधिकारियों में कोई ऐसा न था जो इस 'धार्मिक' साम्राज्य को संभाल सकता।

धर्म की संस्था जब राजा के हाथ में आ जाय तो वह सैनिक बल से भी अधिक अत्याचार करने वाले सिद्ध होती हैं। सैनिक बल प्रजा के घर के बाहर ही अपना प्रभुत्व रखता है; घर के भीतर, और अन्य आचरणों में मनुष्य का अपना मन मस्तिष्क स्वतंत्रता अनुभव करता है। अशोक ने बौद्ध धर्म को राज-धर्म मान कर जन के मन और घर में भी राजकीय भय और विकलता पैदा कर दी। यह अवस्था कुछ समय तक ही सही जा सकती है। प्रचार के प्रबल उद्योग से, जन के मन को वशीभूत रखा जा सकता था। अशोक का अपने आचरणों का उदाहरण भी जनता को वश में रखने सहायक था, पर उसके अनन्तर उत्तराधिकारियों को स्वयं धर्म में वह आस्था न रह सकी, जो अशोक में प्रत्यक्ष ज्ञान से उत्पन्न हुई थी। वे उस धर्म-चक्र को न चला सके। जिन राजाओं और गण-तंत्रों को अशोक ने सैनिक भय से अपने अधीन न कर धर्म-प्रेम और धर्म-साम्राज्य के सिद्धान्त पर केवल सम्बद्ध कर रखा था, वे 'भावी कल्याण' का महत्व कम हो जाने पर, धर्म का सूत्र क्यों बाँधे रहेंगे! वे छिन्न होकर अलग जा पड़े। धर्म जो साम्राज्य का बल था, अब उसकी दुर्बलता बन गया। उसने साम्राज्य के शरीर को क्षीण कर दिया। ऐसे साम्राज्य से जो देश विलग हो रहे हैं, उन्हें क्या धर्माध्यक्ष भेज कर अधीन किया जा सकता था। भय अधीन भी करता है, और भयभीतों को दुर्बल भी बनाता है। यह साधन अशोक के उत्तराधिकारीगण अशोक की मृत्यु के एक दम बाद ही उपयोग में ला सकते थे। धर्मका आधार प्रेम था। प्रेम से जैसे मिला जा सकता है, वैसे ही प्रेम-पूर्वक अलग भी हुआ जा सकता है। और सब से बड़ी कमजोरी यह पैदा हो गई थी कि सारा साम्राज्य सम्राट अशोक के प्रेम के जादू से वशीभूत था; सम्राट को उसकी प्रजा अथवा अधीन राजाओं द्वारा प्रेम के वशीभूत किये जाने की कोई ठोस व्यवस्था नहीं की जा सकी थी। साम्राज्य को भित्ती किसी पारस्परिक प्रेम-बंधन पर नहीं थी, जो अनन्त काल तक सुदृढ़ रहे। फिर एक ओर का जादू तो शीघ्र शिथिल ही हो जायगा। यह मूल रोग साम्राज्य में घर पा गया। वह

पतित हो गया।" [श्री० सत्येन्द्र जी एम० ए०, मथुरा का नोट]

कुछ लोगों का यह भी मत है कि अल्पज्ञ, अदूरदर्शी तथा कट्टर धर्माचार्यों के हाथों अहिंसा का ऐसा दुरुपयोग हुआ कि वह कायरता में ही परिणत हो गयी; आततायियों से अपनी तथा देश की रक्षा करने में लोगों को अधार्मिकता की गंध आने लगी, और यह कार्य समाज में नीची श्रेणी के समझे जाने लगे। परन्तु इस विषय में बहुत मत-भेद है। यह नहीं कहा जा सकता कि मौर्य साम्राज्य की सेना उसके उत्तरकाल में निस्तेज और कमजोर हो गयी थी; जालौक ने इसी सेना से यूनानियों को परास्त किया, तथा कश्मीर में राज्य स्थापित किया था। अस्तु हमारे विचार से मौर्य साम्राज्य के विनाश के प्रमुख कारण वही है, जो पहले बताये गये हैं। क्या इन कारणों का अधिकांश दायित्व स्वयं उसके ही, पीछे के, शासकों पर नहीं है?

सातवाँ अध्याय

मुग़ल साम्राज्य

उम्र की किश्ती को ख़तरे से बचाकर खेइये।
नाखुदा नादान दुख दरिया में लाखों डुबो गये ॥

———

मक़बरों में पैर फैलाये हुए सोते हैं वह।
था ज़मीं से आसमाँ तक जिनका शोहरा एक दिन ॥

मुग़ल साम्राज्य भारतवर्ष में, सोलवीं सदी में स्थापित हुआ। परन्तु इसके बारे में विचार करने की सुविधा के लिए, यहाँ की, कुछ पहले की परिस्थिति पर भी एक नज़र डाल लें।

बारहवीं शताब्दी में, यहाँ की संगठन-हीनता, धार्मिक संकीर्णता तथा सामाजिक निर्बलता और विशेषतया राजपूत राजाओं की फूट आदि से आकर्षित होकर, अफगानिस्तान के जोशीले मुसलमान भारतवर्ष पर आक्रमण करने लग गये। इस समय यह राष्ट्र बहुत रोगी था। एकता और चेतनता का अभाव था। जब इसके एक भाग पर आक्रमण होता था, तो उसके पड़ोसी सुख की नींद सोये रहते थे। उन्हें यह विचार नहीं होता था कि उनकी उपेक्षा से आक्रमणकारी का बल बढ़ेगा, और वह पीछे स्वयं हम पर भी हमला कर सकेगा, और उनमें सफल

भी हो सकेगा। सर्वसाधारण अपने भाग्य को कोस कर रह जाते थे, आपत्ति-निवारण का उपाय न करते थे। जाति और धर्म के मत-भेदों में ही मगज़पच्ची करने वालों और मिथ्याभिमान रखने वालों से और क्या आशा हो सकती है! अस्तु, गनीमत समझिए कि कई शूरवीर नरेशों ने सम्राट् पृथ्वीराज की सहायता के लिए रणक्षेत्र में जी-जान से लड़ना अपना कर्तव्य समझा। परन्तु उसके साम्राज्य की रक्षा कब तक होती, विशेषतया जब कि वह विलासिता का जीवन बिताने लग गया था, कई विवाह करके अनेक राजाओं की शत्रुता मोल ले चुका था, तथा स्वयं अपने भाई बन्धुओं को अपना विरोधी बना चुका था। इस साम्राज्य का अंत होना अनिवार्य था, और वह हो गया।

हिन्दू राजा जैसे-तैसे कुछ छोटे-छोटे राज्यों को सँभाले रहे। देहली की गद्दी पर क्रमशः गुलाम, खिलजी, तुगलक, सैयद और लोदी आदि मुसलमान वंशों के शासक बैठे। प्रायः ये भी कुछ विशेष शक्तिशाली न होने पाये; ये संगठित व्यवस्था न कर सके, और ये चारों ओर विरोधियों से घिरे रहे। प्रजा के सामने 'यह आया, और वह गया' का दृश्य रहा। निरन्तर परिवर्तन होते रहे। अन्ततः कष्ट-सहिष्णु बाबर ने सन् १५२६ ई० में यहाँ उस साम्राज्य की स्थापना की जिसे मुगल साम्राज्य कहा जाता है। असल में वह तैमूर के वंश में से था। जो तुर्क था। इस प्रकार इस साम्राज्य को तुर्क साम्राज्य कहना चाहिए। मातृ-पक्ष में बाबर का सम्बन्ध मंगोल विजेता चंगेज़खाँ से था, जिसके

बारे में चीन के मंगोल साम्राज्य के प्रसङ्ग में लिखा जायगा। मंगोल और मुगल एक ही बात है। फारसी और अरबी में यह शब्द मुगल लिखा जाता है, योरपवाले 'मंगोल' शब्द का भी प्रयोग करते हैं। जो मंगोल या मुगल भारतवर्ष में आये वे पहले. फारिस में रहे थे, और वहाँ का धर्म (इसलाम) और वहाँ की भाषा (फारसी) ग्रहण कर चुके थे। चीन के मंगोलों को यह बात न थी।

बाबर साहसी था, उनके मन में बादशाह बनने और अपना राज्य बढ़ाने की उमंग थी। उसने कई लड़ाइयां लड़ी। उसे काबुल मिल गया, पर समरकंद पाने में वह सफल न हुआ। पीछे वह भारतवर्ष के लोदी राजवंश की निर्बलता और संगठन-हीनता का लाभ उठाकर यहाँ आया। उस समय दिल्ली में इब्राहीम लोदी राज्य कर रहा था। उसके व्यवहार से कई अमीर अप्रसन्न थे और उसके विरुद्ध षड़यत्र रच रहे थे। बाबर ने इब्राहीम लोदी को पानीपत के मैदान में हराया। बाबर की जीत का एक मुख्य कारण यह भी था कि वह नये तरीके से लड़ा, उसने तोपखाने से काम लिया, जब कि इब्राहीम की युद्ध-प्रणाली पुराने ढङ्ग की थी। संसार में ऐसा राज्य या जाति बहुत समय जीवित नहीं रहती, जो समय के अनुसार प्रगति न करे। अस्तु, बाबर को उपर्युक्त विजय से दिल्ली और आगरा मिल गया। पर वह इसी से संतुष्ट न हुआ उसने राजपूतों को भी अपने अधीन करना चाहा। इसके लिए उसने मद्यपान का त्याग करके अद्भुत दृढ़ता का परिचय दिया। उसने शराब पीने के

बहुमूल्य बर्तन तोड़ डाले, और यह प्रतिज्ञा की कि अब कभी शराब न पीऊँगा। ऐसे वीर को विजय-लक्ष्मी कृतार्थ करे तो क्या आश्चर्य। सीकरी के पास राजपूतों की पराजय रही। उनके साम्राज्य-स्थापना की आशा जाती रही। बाबर ने यह लड़ाई भी उसी तरीके से लड़ी, जिससे उसने पानीपत में विजय पायी। इसमें उसकी जीत का कारण तोपखाना और सेना की सुव्यवस्था थी। इसके बाद बाबर ने मालवा, बुन्देलखण्ड तथा बिहार पर अधिकार किया, बङ्गाल के राजा ने उससे संधि कर ली। इस प्रकार यद्यपि बाबर को अपने राज्य का सङ्गठन करने का अवसर न मिला, उसकी मृत्यु के समय (सन् १५३० ई०) उत्तर भारत में मुग़ल साम्राज्य की स्थापना हो गयी।

बाबर से पहले जितने मुसलमान बादशाह हुए थे, उनसे बाबर में कई विशेषताएँ थी। पहले बादशाह खलीफा की अधीनता स्वीकार करते थे, और उसके फरमान के आधार पर यहाँ राज्य करते थे। बाबर ने किसी बाहरी शक्ति का प्रभुत्व स्वीकार न किया, वह स्वयं यहां का बादशाह बना। इस प्रकार वह पहला मुसलमान बादशाह हुआ जो बाहरी शक्तियों की अधीनता से मुक्त था। वह विशेषतया साधुओं और फक़ीरों की संगति से धार्मिक बातों में बहुत उदार हो गया था। वह हिन्दुओं और मुसलमानों में भेद करना नहीं चाहता था। उसकी नीति दोनों जातियों में मेल कराने की थी। जल्दी ही मर जाने के कारण उसे ऐसा अवसर न मिला, कि इस नीति को कुछ विशेष रूप से अमल में लाता। किन्तु वह अपने पुत्र

हुमायूँ के लिए एक 'निजी वसीहतनामा' छोड़ गया, जिससे उसकी उदारता का अच्छा परिचय मिलता है। असली वसीहतनामा फ़ारसी में है, और भोपाल के सरकारी पुस्तकालय में सुरक्षित है। आगे उसका भावानुवाद दिया जाता है:—

"मेरे पुत्र। भारतवर्ष में भिन्न-भिन्न धर्मों के मानने वाले रहते हैं। ईश्वर को धन्यवाद है कि उस बादशाहों के बादशाह ने इस देश का राज्य तुम्हें सौंपा है। इसलिए

१—तुम्हें कभी धार्मिक पक्षपात मन में न आने देना चाहिए। और सब जातियो के आदमियों के धार्मिक रीति-रिवाज का समुचित ध्यान रखते हुये सब के साथ निस्पक्ष रूप से न्याय करना चाहिए।

२—विशेष रूप से तुम्हें गोहत्या से परहेज़ करना चाहिए। इससे तुम्हें भारतवासियों के हृदय पर अधिकार पाने में सहायता मिलेगी इस प्रकार तुम इस देश के आदमियों को कृतज्ञता के सूत्र में बाँध सकोगे।

३—तुम्हें किसी जाति के पूजा-स्थान (मंदिर) को कदापि नष्ट न करना चाहिए, और हमेशा न्याय-प्रेमी होना, चाहिए जिससे बादशाह और प्रजा में हार्दिक प्रेम का सम्बन्ध रहे, और देश में शान्ति और सन्तोष हो।

४—इसलाम धर्म का प्रचार अत्याचार की तलवार की अपेक्षा प्रेम द्वारा अच्छी तरह होगा।

५—शिया सुन्नियों के पारस्परिक वादविवाद की ओर ध्यान न दो, अन्यथा इसलाम में कमज़ोरी आयेगी।

६—प्रजा की विभिन्नताओं को वर्ष की भिन्न-भिन्न ऋतुओं के समान समझो, जिससे राष्ट्र में कोई विकार न आने पावे।

दुर्भाग्य से हुमायूँ को शान्ति-पूर्वक राज्य करना नसीब न

हुआ। वह यहाँ संगठन कार्य न कर सका। चारों ओर वह शत्रुओं से घिरा हुआ था। उसे बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, यहाँ तक कि शेरशाह नामक अफ़गान से हार जाने पर उसे यहाँ से भाग जाना पड़ा अन्त में पन्द्रह वर्ष बाहर बिताकर, उसने शेरशाह के निर्बल वंशजों से अपना राज्य वापिस लिया। लेकिन पीछे जल्दी ही उसका देहान्त हो गया। अब उसका प्रतापी पुत्र अकबर राजगद्दी पर आया।

अकबर में वे सब गुण थे, जो योग्य साम्राज्य-निर्माता में होने चाहिएँ। वह विचारशील था। उसे अपने बाबा बाबर का हिदायतनामा मिला, जिस पर हुमायूँ को अमल करने का अवसर नहीं मिला था। उसने यह भी अनुभव किया कि हुमायूँ को कैसी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था, और उसका राज्य कैसा अस्थिर रहा था। उसने अच्छी तरह जान लिया कि भारतवर्ष के सुदृढ़ साम्राज्य की स्थापना के लिए हिन्दू-मुसलिम एकता अनिवार्य है। उसने इस प्रश्न पर उदारता और निस्पक्षता से विचार किया, और, अपने सामने एक निश्चित् लक्ष्य रखकर अपना कार्य-क्रम स्थिर किया। उसकी शासन-नीति का रहस्य यह रहा कि हिन्दुओं को यह ख्याल करने का मौका न दिया जाय कि यहाँ विदेशियों या विधर्मियों का राज्य है। वह सब को समान समझता था। पर यही काफ़ी न था। आवश्यकता थी कि राज्य के सब अधिकारी इसी भावना से काम करें। अतः उसने उच्च पदों पर हिन्दुओं की नियुक्ति की, अथवा ऐसे व्यक्ति नियुक्त किये जो हिन्दुओं के साथ अच्छा व्यवहार करें।

हिन्दुओं में राजपूत अपनी वीरता तथा गुणों के लिए प्रसिद्ध थे, उनसे अकबर ने विवाह-सम्बन्ध करके उन्हें अपनी ओर मिलाने तथा उन्हें पूरा भक्त बनाने का प्रयत्न किया। इसमें उसे खूब सफलता मिली। केवल मेवाड़ का राणाप्रताप अपनी आन पर डटा रहा, अन्य राजपूत उसके सेवक और मित्र हो गये थे। वे अकबर के साम्राज्य के विरोधी रहने के बजाय, उसके सहायक और आधार-स्तम्भ बन गये कितने ही राजपूत बादशाही फ़ौज में ऊँचे-ऊँचे मनसबदार तथा सेनाध्यक्ष हो गये।

अन्य बातों में भी अकबर का व्यवहार हिन्दुओं के साथ बहुत उदार और प्रशंसात्मक रहा। मुसलिम शासकों की बहुधा यह नीति रहती थी कि जो जातियां सैनिक सेवा में सहयोग न करें, उनसे वे 'जज़िया नामक कर लेते थे। और, क्योंकि प्राय: ग़ैरमुसलिम ही ऐसे होते थे, जिन्हें यह कर देने का प्रसंग आता था, कालान्तर में यह कर धार्मिक पक्षपात का सूचक हो गया। अकबर ने यह कर माफ कर दिया। उसने अपनी समस्त प्रजा को, बिना भेद-भाव, धार्मिक स्वतन्त्रता दी। कोई व्यक्ति चाहे जिस धर्म का पालन करे, राज्य की दृष्टि में सब समान थे। यद्यपि स्वयं अकबर को पहले सुन्नी धर्म की शिक्षा मिली थी, ज्यों ज्यों वह बड़ा होता गया, उसे धार्मिक असहिष्णुता फैलाने वाले मुल्ला मौलवियों से अरूचि हो गयी। वह सब धर्मों में सत्य की खोज करने लगा। उसने विविध धर्मों की बहस (शास्त्रार्थ) सुनी, इसके लिए उसने अपने फतह सीकरी के महलों में एक इबादतखाना (पूजाघर) बनवाया, वहाँ ब्राह्मण, जैन, ईसाई पारसी और यहूदी

भी भाग लेते थे। राजपूतों के मेल-जोल तथा हिन्दू-राजकुमारी से विवाह करने से उसका झुकाव हिन्दू धर्म की ओर हो ही रहा था। अब शास्त्रार्थों ने उसे और भी उदार बना दिया। वह यह मनाने लग गया कि ईश्वर एक है, विविध धर्म उसके पास पहुँचने के अलग रास्ते हैं। सब का लक्ष्य एक ही है। इनमें पक्षपात या भेद-भाव करना मूर्खता या अल्पज्ञता है। जो बात मंदिर में है, वही मसजिद में, और वही गिरजाघर में। उसने एक नया धर्म दीन-इलाही' चलाने का प्रयत्न किया; जिसमें सब धर्मों की अच्छी-अच्छी बातों का समावेश हो। परन्तु लोगों के विचारों में जल्दी विशेष परिवर्तन नहीं होता। इसलिए उसका यह मत बहुत नहीं फैला, कट्टर मुसलमान उससे घृणा करते थे, और, कट्टर हिन्दू उसे 'मीठी छुरी' समझते थे। तथापि इससे उसकी धार्मिकता उदारता और समभाव का स्पष्ट परिचय मिलता है।

बादशाह का खान-पान, रहन-सहन, मनोरंजन, इबादत (पूजा आदि) कोई बात ऐसी न थी, जिससे हिन्दू उसे ग़ैर समझें। हाँ, कई बातों से तो मुसलमान ही उससे अप्रसन्न रहे; उदाहरण के लिए उसने दाढ़ी रखना बन्द कर दिया, ब्याज लेना जायज ठहराया, कट्टर मुल्ला मौलवियों को दरबार से निकाल दिया, हिन्दुओं के त्यौहारों में सहर्ष भाग लिया; यही नहीं, उनके मनाये जाने के लिए राज्य की ओर से सब प्रकार की सुविधाएँ प्रदान की। अकबर ने संगीत और साहित्य में रुचि दिखलायी, विद्वानों का आदर किया। उसका समय भारतवासियों के लिए सुख-शान्ति ही नहीं, उन्नति और समृद्धि

का समय रहा है, और इससे भी बढ़कर यह हिन्दू और मुसलिम दो संस्कृतियों के सुन्दर मिलाप का समय रहा है। अकबर की महत्ता उसकी, उस समय के अन्य देशी शासकों से, तुलना करने पर सहज ही सिद्ध हो जाती है, पर उसके लिए यहाँ स्थान नहीं।

अस्तु, अकबर ने क्रमशः गुजरात, बंगाल, बिहार, सिन्ध, कश्मीर, काबुल, कंधार, और खानदेश आदि को अपने राज्य में मिलाया। यद्यपि वीरवर राणा प्रताप ने उसकी अधीनता स्वीकार न की, दूसरे अनेक राजपूत राज्य मुगल साम्राज्य के संरक्षण में रहने लगे। इस प्रकार वह अपनी मृत्यु के समय एक महान, और दृढ़ और सुव्यवस्थित साम्राज्य छोड़ गया।

अकबर के बाद सन् १६०५ ई० में उसका पुत्र जहाँगीर राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। उसने अकबर की उदार नीति जारी रखी। वह सुयोग्य अधिकारियों के सहयोग से साम्राज्य की रक्षा और उन्नति करता रहा। उसके बाद उसका पुत्र शाहजहाँ गद्दी पर बैठा। इसमें अकबर की तरह उदारता न थी। तथापि इसने धार्मिक सहिष्णुता की नीति बनाये रखी। यह शासन-प्रबन्ध की ओर यथेष्ट ध्यान देता रहा; केवल वृद्धावस्था में इसने कुछ कार्य अपने पुत्र दारा को सौंप दिया। इसने साम्राज्य घटने नहीं दिया, वरन् उसमें अहमदनगर और मिला लिया। यह निर्माण-कला का विशेष प्रेमी था। अपनी प्यारी बेगम मुमताज महल की यादगार में इसने आगरे का ताजमहल बनवाया जो संसार भर की प्रसिद्ध इमा-

रतों में से है, और जिसे देखने के लिए दूर-दूर के यात्री यहाँ आते हैं। शाहजहाँ ने दश करोड़ रुपये की लागत से तख्त ताऊस भी बनवाया था, जिसमें सर्वत्र बहुमूल्य हीरे जड़े हुए थे। समय की बलिहारी! ऐसी शान-शौकत वाले सम्राट् को अपने जीवन के अन्तिम आठ वर्ष कैद में व्यतीत करने पड़े। यद्यपि इस बादशाह का देहान्त सन् १६६६ ई० में हुआ, इसका शासन काल सन् १६५६ ई० में समाप्त हो गया था, जब कि इसके पुत्र औरङ्गजेब ने इसे कैद करके राज-सिंहासन पर अधिकार लिया और धूमधाम से अपना राज्याभिषेक किया।

औरङ्गजेब का, मुगल साम्राज्य के इतिहास में एक विशेष स्थान है। इसके विषय में, विशेषतया इसके विपक्ष में, बहुत-कुछ लिखा गया है। समुचित विचार करने के लिए उसकी परिस्थिति को समझना आवश्यक है। औरङ्गजेब के विरुद्ध गद्दी का दावे-दार इसका भाई दारा था, जिसका झुकाव हिन्दुओं की ओर था, और जिसे हिन्दुओं की सहानुभूति और सहायता प्राप्त थी। उसके विरोध में सफल होने के वास्ते, औरङ्गजेब के लिए यह आवश्यक था कि वह दारा-विरोधी शक्तियों का संगठन करे, और उन्हें अपनी ओर मिलावे। इसलिए उसने कट्टर मुसलमान और मौलवी-मुलाओं को अपनाया। इनका आदर-सम्मान किया जाने लगा, इन्हें संतुष्ट रखने का प्रयत्न होने लगा। हिन्दुओं से मेल-जोल बढ़ाना बन्द कर दिया गया। जज़िया कर फिर लगा दिया गया शाही दरबार की तरफ से हिन्दू त्योहारों का मनाया जाना, तथा उनमें बादशाह का भाग लेना बन्द हो

गया। धीरे-धीरे शासन का स्वरूप ही बदल चला। औरंगजेब बुद्धिमान और अनुभवी था। उससे यह छिपा न था कि ऐसी नीति का परिणाम साम्राज्य-संगठन के लिए अहितकर होगा, पर इसके लिए उसके पास कोई चारा न था।

औरंगजेब के व्यक्तिगत जीवन के विषय में कोई शिकायत नहीं है। वह संयमी, सदाचारी और सादे रहन-सहन वाला था। वह खूब कुशल था। यदि उसे अपने ही धर्मवाली प्रजा मिलती-यदि वह किसी ऐसे साम्राज्य का सम्राट् होता, जहाँ की प्रजा मुसलमान ही नहीं, सुन्नी मुसलमान होती, तो सम्भव था कि वह एक चतुर और सुखदायी शासक सिद्ध होता, उसके समय में साम्राज्य की दृढ़ता बढ़ती। जिस पर मुगल साम्राज्य से उसका सम्बन्ध जुड़ा था, उसमें तो हिन्दू जनता का बाहुल्य था, कुछ शिया राज्य भी थे। यह इस साम्राज्य का दुर्भाग्य था कि उसके सिंहासन पर औरंगजेब बैठा, जिसमें अन्य गुण होते हुये भी अकबर की उदारता और धार्मिक समभाव आदि का अभाव था। अन्य जाति वालों की तो बात ही क्या, वह अपने सहधर्मियों और भाई-बन्धुओं के प्रति भी सशंक था। उसने स्वयं अपने पिता को कैद करके और सहोदर भाई-बन्धुओं को आधीन या परास्त करके राज-गद्दी पर अधिकार किया था। उसे अपनी प्रभुता निष्कंटक रखने की बड़ी चिन्ता थी, पर वह निष्कंटक हो ही कैसे सकती है, जब कि उसका आधार अविश्वास, अदूरदर्शिता, और धार्मिक असहिष्णुता हो।

औरंगजेब यहाँ का छठा मुगल सम्राट् था, उसका देहान्त सन् १७०७ ई० में हुआ। यद्यपि उसके बाद नौ मुगल बादशाह हुए, वास्तव में वही इस वंश का अन्तिम प्रसिद्ध सम्राट् था। उसके धार्मिक या जातिगत पक्षपात तथा उसके उत्तराधिकारियों की निर्बलता और विलासिता आदि के फल-स्वरूप यहाँ क्रमशः कई विरोधी शक्तियाँ खड़ी हो गयीं। राजपूत जो पहले मुगलों के मुख्य सहायकों में थे, अब असंतुष्ट होने के कारण, उसकी सहायता से हाथ खैंच रहे थे। जाटों ने आगरा और मथुरा आदि पर अधिकार जमा लिया था। दक्षिण भारत में भिन्न-भिन्न प्रान्तों के सूबेदार स्वाधीन राज्य स्थापित करने लगे। शांत और सहिष्णु सिक्खों ने शासकों के अत्याचार से तंग आकर सैनिक स्वरूप धारण किया, और पंजाब, पश्चिमोत्तर भारत, तथा अफगानिस्तान आदि में अपना राज्य स्थापित कर लिया। मध्य तथा उत्तर भारत में शिवाजी महाराज के उत्तराधिकारी पेशवाओं ने महाराष्ट्र का निर्माण किया। यहाँ तक कि अन्त में मुगल सम्राट् भी उनके संरक्षण में आ गया।

परन्तु इस उथल-पुथल के समय में डच, फ्राँसीसी, पुर्तगीज, और अंगरेज आदि योरपीय जातियों के साहसी व्यापारियों ने यहाँ आकर अपने अड्डे जमा लिये, और अपनी चतुराई और विनय शीलता तथा इनसे भी बढ़कर विभेद नीति से बहुत से आदमियों को अपनी तरफ मिला लिया, इससे उन उदीयमान शक्तियों को गहरा धक्का पहुँचा, और भारतीय इतिहास का स्वरूप ही बदल गया। ये पाश्चात्य जातियाँ पीछे अपनी पार-

स्परिक ईर्ष्या और प्रतिद्वन्द्विता के कारण आपस में लड़ने लगीं, तो कुछ अदूरदर्शी भारतीयों ने उनमें से एक या दूसरे का पक्ष लिया, पर अपने राष्ट्रीय संगठन में योग न दिया। पाश्चात्य जातियों में से अन्त में अंगरेजों का पलड़ा भारी रहा। उनकी प्रत्येक विजय से उनका आगे का मार्ग प्रशस्त होता गया; एक अधीन भाग का जन धन दूसरे भाग को अधीन करने में सहायक हुआ। इस प्रकार भारतवासियों के सहयोग से इनकी तलवार और इनके ही पैसे से, अंगरेज़ यहाँ अपनी प्रभुता स्थापित करने लगे। सन् १८०३ में उन्होंने दिल्ली और मुगल सम्राट् को अपने अधीन कर लिया। अब सम्राट् अंगरेजों की पेन्शन पानेवाला एक अशक्त व्यक्ति था, तथापि अंगरेज अपने आप को उसकी प्रजा मानते थे, और उससे अधिकार और सत्ता ग्रहण करते थे। अन्तिम मुग़ल सम्राटों में चाहे जो निर्बलता और दुर्गुण रहे हों, यह बात भुलाई नहीं जा सकती कि उन्होंने भारतवर्ष को अपना घर बना लिया था, और वे यहाँ किसी किसी विदेशी सत्ता का अधिकार होना कदापि पसन्द नहीं करते थे। सन् १८५७ ई० की क्रान्ति में बहादुरशाह ने यथा-सम्भव भाग लिया। इसी अभियोग में, क्रान्ति असफल रह जाने पर, यह अभागा 'सम्राट्' कैदी के रूप में रंगून भेजा गया। अंगरेजों का शासन, कानून की दृष्टि से, यहाँ सन् १८५८ से ही स्थापित हुआ।

मुग़ल साम्राज्य की स्मृति स्थूल रूप से तो केवल कुछ इमारतों या इतिहास पृष्ठों में ही है, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से, उसकी छाप

भारतीय-जीवन पर भली भाँति मिलती है। यहाँ के त्यौहार, रीति रस्म, कला-कौशल, भाषा, साहित्य, संस्कृति आदि उसका प्रबल प्रमाण हैं। यद्यपि मुग़ल सम्राटों का सम्बन्ध, भारतवर्ष से, सवा तीन सौ वर्ष से भी अधिक रहा, यह साम्राज्य दो सौ वर्ष के भीतर ही यौवनावस्था को पार करके वृद्धावस्था का अनुभव करने लग गया था। यह क्षय रोग के ग्रस्त हो चला था, पीछे तो निर्बलता बढ़ती गयी, अन्त में यह यथेष्ट प्रतीक्षा के पश्चात् मृत्यु को प्राप्त हुआ।

अब इस साम्राज्य के पतन पर विचार करें। मुग़ल साम्राज्य की निर्बलता के मुख्य कारणों में से एक यह था कि हिन्दू मुसलमानों की सभ्यता, धर्म और आचार-व्यवहार में अन्तर था। अकबर ने यह बात ताड़ ली, और उसने यथा-सम्भव दोनों जातियों के आदमियों को एक-दूसरे के नजदीक लाने का प्रयत्न किया। परन्तु उसका काम विशेष परिणाम पर होने भी न पाया कि उसकी नीति छोड़ दी गई। वास्तव में ऐसे कार्य में बहुत समय लगता है, सहसा एक-आध पीढ़ी में ही सफलता नहीं मिलती, सुदीर्घकाल तक धैर्य-पूर्वक काम करने की आवश्यता होती है। फिर, उस समय यहाँ की प्रधान और बहु-संख्यक हिन्दू जाति में उन गुणों का अभाव था, जिनसे भिन्न-भिन्न सभ्यता आदि का मिश्रण हुआ करता है। जो हिन्दू पूर्व-काल में उदारता-पूर्वक हूण शक आदि को अपने दूध में शक्कर की तरह, मिला चुके थे, इस समय स्पर्शास्पर्श के विचार में पड़े थे, और छुईमुई की तरह 'यवन' या 'मलेच्छों' के संसर्ग से भयभीत

और आशंकित थे।

अस्तु, हिन्दू और मुसलमान दोनों एक दूसरे के प्रति धार्मिक उदारता आदि का यथेष्ट परिचय न दे सके, इसके फल-स्वरूप इनकी साम्राज्य-घातक पृथकता बनी रही, और औरङ्गजेब के समय में अनुकूलता पाकर भयंकर रूप से बढ़ गयी। औरङ्गजेब की शासन-नीति ने साम्राज्य को धक्का पहुँचाया। यद्यपि पीछे उसके कुछ उत्तराधिकारियों ने इस गलती को महसूस करके इसका त्याग किया; और वे फिर अकबर की नीति के अनुसार व्यवहार करने लगे; परन्तु एक तो उनके नीति परिवर्तन से अस्थिरता का परिचय मिलता था; दूसरे, अब एक तीसरी शक्ति (अंगरेजों की) आ गयी थी, जिसके कारण उद्देश्य सफल नहीं हो सकता था।

दूसरी विचारणीय बात यह है कि राजवंश में राज्याधिकार के लिए प्रतिस्पर्द्धा होना, आगे पीछे महाभारत के होने की सूचना होती है। हिन्दुओं में तो बड़े लड़के को उत्तराधिकारी माना जाता है, राजनीति एवं समाजनीति दोनों उसका समर्थन करती है, प्राय: लोक-मत उसी के पक्ष में रहता है। पर मुसलमानों में यह बात नहीं है। बादशाह अपने 'वली अहद' (उत्तराधिकार) को नामज़द करे, यह नियम है। जिस किसी पर बादशाह की कृपा-दृष्टि होगी, उसे गद्दी का मालिक होने का अवसर मिल सकता है। बादशाह के लड़कों में इससे ईर्षा का भाव होता है। जिस लड़के को राजगद्दी से वंचित होने की आशंका हो वह बलवान होने की दशा में अपने अधिकार के प्रश्न को तलवार

से हल कराने का इच्छुक रहता है। इससे चारों ओर अशान्ति और गृह-कलह उपस्थित होता है।

मुसलमान बादशाहों के मरने पर ही नहीं, बहुधा उनके जीवन-काल में ही उनके वारिसों में आपस में वैमनस्य होता था। वे ईर्षा-पूर्वक इस बात का ध्यान रखते थे कि बादशाह किस पर अधिक कृपा-दृष्टि रखता है। इन वारिसों के झगड़ों में अमीरों और मुख्य राज्याधिकारियों के अलग-अलग दल बन जाते थे, और वे राज्य को कमजोर करने में सहायक होते थे। उत्तराधिकारियों को समझा-बुझा कर सन्मार्ग पर लानेवाली कोई शक्ति या संस्था देश में न थी। प्रत्येक उत्तराधिकारी, सेना तथा राज्य के ख़ास-ख़ास आदमियों को अपनी ओर मिलाने की फ़िक्र में रहता था। कैसी सोचनीय स्थिति है! यदि बादशाह वृद्ध होता है, तो बजाय इसके कि उसके पुत्र उसकी सेवा-सुश्रूषा करें, वे इस चिन्ता में पड़ जाते हैं कि जैसे बने इसके जीते-जी ही राज्य में हमारी धाक जम जाय, और हमें राजगद्दी मिलने में किसी प्रकार का संशय न रहे। बादशाह की बीमारी में भी उत्तराधिकारी उसकी मृत्यु के समय होने वाली स्थिति का विचार करते और अपने अपने स्वार्थ-साधन में लग जाते हैं। औरंगजेब का, शाहजहाँ को उसके अन्तिम काल में कैद करके रखना इन विचार-धाराओं तथा प्रथा के अनुरूप ही है।

औरंगजेब के बाद साम्राज्य के उत्तराधिकारी प्रायः अपने पूर्वजों की कमाई पर मौज उड़ाने लगे, उन्होंने संयमी और कठोर जीवन का परित्याग कर दिया। हरम (महलों) में कई-

कई बेगम और उनकी दासी और सखी आदि रहती थीं; उनके संसर्ग में राजकुमारों का जीवन सुकुमार, और विलासितामय हो जाना स्वाभाविक और अनिवार्य था; वे प्राय: आरामतलब, कायर, आलसी, चरित्र भ्रष्ट हो जाते थे; राजनीति, सैन्य-संचालन, राज्य-प्रबन्ध आदि की शिक्षा उन्हें मिलती न थी, और यदि पीछे मिली भी, तो उसका पूर्व संस्कारों के कारण उतना प्रभाव नहीं हो सकता था। निकटवर्ती अन्य राज्यों की तो बात दूर रही, उन्हें बहुधा अपने राज्य के भिन्न-भिन्न भागों की व्यवस्था का भी पूर्ण परिचय नहीं रहता था।

बादशाहों के वैभव और विलासिता की छाया सेना पर पड़ी। बादशाही सेना अब पूरे राजसी ठाट से चलती थी। उसके साथ सेनापतियों के सब सुखों की सामग्री होती थी। खूब धूम-धाम लम्बे चौड़े जलूस, और विशाल रूप वाले बाज़ार होते थे। यह बातें उस साम्राज्य के लिए और भी चिन्तनीय थीं जिसे मराठो जैसी उठती हुई शक्ति का सामना करना था, जिनके सैनिक खुल्लमखुल्ला युद्ध नहीं करते थे; रूखा-सूखा भोजन खाते हुये, घोड़ों पर सवार झट एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँच जाते थे। मनसबदारी-प्रथा भी मुगल सेना की बड़ी निर्बलता थी। प्रत्येक जागीरदार या मनसबदार के लिए युद्ध के समय, निर्धारित संख्या के आदमी साम्राज्य की सेवा के लिए रखने का नियम था, अथवा उनसे इतनी सेना भरती करने की आशा की जाती थी। बहुधा मनसबदारों के सैनिकों की संख्या उनके लिए सम्मान-सूचक रह जाती थी।

वे इतने सैनिक नहीं रखते थे, वे केवल आवश्यकता के समय सैनिक शिक्षण से वंचित रंगरूट जैसे-तैसे इधर-उधर से संग्रह करके दिखा देते थे। इस दोष को दूर करने का समय-समय पर प्रयत्न किया गया, परन्तु यह प्रथा ही ऐसी थी कि अनुशासन और निरीक्षण में जरा भी शिथिलता होने पर इससे होने वाली बुराई सामने आ जाती थी।

मुग़ल साम्राज्य का अन्त हो गया; पर यह समझना आवश्यक है कि इसके ह्रास के कारण स्वयं इसी में उत्पन्न हो गये थे। अकबर की जिस उदार नीति ने इसे संजीवनी शक्ति प्रदान की थी, वह औरंगजेब के समय में न रही। उसी सम्राट् के सामने इस साम्राज्य में अराजकता तथा विद्रोह के लक्षण दिखायी देने लग गये थे। उसके मरने पर निर्बल ऐयाश और आरामतलब उत्तराधिकारी इस विशाल साम्राज्य के सूत्र-संचालन में असमर्थ रहे। जगह-जगह विद्रोह और अराजकता हुई। भिन्न-भिन्न प्रान्तों में स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना होने लगी। बाहरी आक्रमणों से इसकी रही-सही शक्ति का विनाश हुआ दीखता है, परन्तु इसमें दूसरों की कूटनीति का भी कम भाग नहीं; और, इसके विपक्षियों को सफलता मिलने का कारण यही है कि यह भीतर-भीतर ही रोग-ग्रस्त था। अधिकारी वर्ग आलसी, निस्तेज और निरुद्यमी थे। यह साम्राज्य इतना रोगी होकर भी इतने समय तक जैसे-तैसे बना रहा, यह गनीमत है। इसके मरने में तो कोई आश्चर्य की बात ही नहीं।

आठवाँ अध्याय

चीन का मंगोल साम्राज्य

घन वैभव जहँ बढ़त, प्रजा छीजत तहँ जाई।
नहिं मङ्गल तेहि भूमि, अमङ्गल नित नियराई॥
कुमर और उमराव, बने बिगड़े कछु नाही।
फूंक माहिं वे बनत, फूंकही सों मिट जाही॥
पै दृढ़ कृषक् समाज, देश को सांचो गौरव।
नाश भये इकबार, फेर नहिं उपजन संभव॥

—श्रीधर पाठक

अब तक भारतवर्ष के साम्राज्यों की बात हुई। अब हम अन्य साम्राज्यों का विचार करेंगे। पहले एशिया महाद्वीप के ही कुछ साम्राज्यों का विषय लेते हैं। इनमें सबसे पहले हमारा ध्यान चीन के मंगोल साम्राज्य की ओर जाता है—चीन प्राचीनता, विशालता, सभ्यता और धर्म आदि में भारतवर्ष से बहुत मिलता है।

चीन की संस्कृति कैसी पुरानी है! कई बातों की खोज सब से पहले चीन में ही हुई; उनका आदि अन्वेषक होने के कारण, वह आजकल के 'सभ्य-शिरोमणि' राष्ट्रों का सिर नीचा कर रहा है। यह ठीक है कि जनसाधारण उगते हुए सूर्य को नमस्कार करते हैं; उसके अस्ताचल जाते समय दर्शन करने वाले

कम होते हैं। संसार में सत्ता वालों में सभी गुणों का समावेश मान लिया जाता है। तथापि, चीन का जो अधूरा-सा इतिहास मिलता है, उससे भी अब कोई इस बात को अस्वीकार नहीं कर सकता कि मुद्रण-यंत्र (छापेखाने) के आविष्कार का श्रेय योरप वालों को कदापि नहीं है, चीन वाले उनसे सहस्रों वर्ष पूर्व इसमें सफल हो चुके थे। गोले-बारूद का प्रयोग तो वे इससे भी पूर्व कर चुके थे, और यदि उन्होंने इसे योरपियनों से पहले विध्वंसक कार्य में नहीं लगाया तो यह उनके लिए कोई अपयश की बात नहीं है। खगोल शास्त्र, आरोग्य शास्त्र, काव्य और मुद्रा-शास्त्र (जिसमें कागजी सिक्के का भी विषय सम्मिलित है) में भी चीनियों की प्रगति उन्हें गुरू पद प्रदान करती है ! उनकी बनायी विशाल प्राचीर (चार दीवारी) स्थूल दृष्टि वालों के लिए भी प्राचीनता का प्रमाण दे रही है। चीन की उत्तरी सीमा पर यह दीवार विदेशियों के आक्रमण से रक्षा करने के लिए ईसा की तीसरी सदी में बनायी गयी थी। पीछे यह कुछ बढ़ायी गई। अब यह पन्द्रह सौ मील लम्बी, और तीस फुट ऊँची है। इसकी मोटाई नीचे १५ से २५ फुट तक है, और यह ऊपर १२ फुट चौड़ी है। इसके दो-दो सौ गज के फासले पर चालीस फुट ऊँचे बुर्ज या मीनार हैं। पहाड़ों, खंदकों और जंगलों के रास्ते बनाई हुई यह दीवार, चीन की अपने ढंग की अनूठी कथा कह रही है।

इस दीवार के अतिरिक्त एक लम्बी चौड़ी नहर भी चीन की कीर्ति का बखान कर रही है। यह लगभग बारह सौ मील लम्बी

है। इसमें पानी की गहराई ७ से ११ फुट तक, और कभी-कभी १३ फुट तक रहती है, इसकी चौड़ाई प्रायः सौ फुट से अधिक है। ऐसा ख्याल किया जाता है कि इस नहर का प्राचीन भाग ई० पू० सन् ४८६ में बनाया गया था। पीछे इसकी मरम्मत तथा वृद्धि की गई।

चीन का इतिहास इतना पुराना है कि उसका प्रामाणिक रूप से सिलसिलेवार विचार नहीं हो सका है। जहाँ तक भी निगाह पहुँचती है, चीन वाले अपने वर्तमान देश में ही मिलते हैं, उनके कहीं बाहर से आकर बसने के समय का पता नहीं लगता। प्राचीन इतिहास लेखकों को वे आरम्भ में ही खेती करने तथा राज-संस्था का उपभोग करनेवाले मिलते हैं। निदान, चीन वालों का इतिहास कब से प्रारम्भ होता है, कब उन्होंने खेती करना सीखा, और कब राजसंस्था की स्थापना की, यह कोई नहीं बताता। 'ऐनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' के लेखानुसार चीनवासी अपना प्रथम सम्राट् फू-टी को मानते हैं, जिसने पारिवारिक जीवन और सामाजिक व्यवस्था की नींव डाली। इसका समय वे ई० पू० २८५२ ई० से २७३८ तक के बीच मानते हैं। इस प्रकार उनका इतिहास अब से लगभग पाँच हजार वर्ष पहले तक का है। चीन में वंशों का नाम रखने की प्रथा संसार के अन्य बहुत से देशों की अपेक्षा पुरानी है। यहां का प्राचीन इतिहास-काल वंशों के ही आधार पर विभक्त है। समय-समय पर यहाँ अनेक वंशों का शासन रहा। कितने ही राज्यों का उदय और अस्त हुआ। किसी वंश के समय में

साम्राज्य का विस्तार घटा, और किसी के समय में वह अलग-अलग टुकड़ों में बंट गया। कई बार की उथल-पुथल के बाद ईसा की सातवीं सदी में चीन का भाग्य फिर चमका। मध्य-एशिया में इसका प्रभाव बढ़ चला। इसकी सीमा पूर्वी ईरान और केस्पियन सागर तक पहुँच गई। साम्राज्य की ख्याति इस समय ऐसी बढ़ी-चढ़ी थी कि नेपाल, मगध, ईरान और कुस्तनतुनिया तक से राजदूत यहाँ सम्राट् के दरबार में आते थे। इसी समय मुहम्मद साहब के दूत भी यहाँ आये और उनका अच्छा स्वागत किया गया। अस्तु, हमें तो इसके भी पाँच सौ वर्ष बाद की स्थिति का विचार करना है।

बारहवीं शताब्दी के अन्त से, चीन के इतिहास में विशेष घटना होती है। यद्यपि अब से कई शताब्दियों पूर्व इस देश की धाक मध्य-एशिया तक पहुँच चुकी थी, और इसका भारतवर्ष से धार्मिक सम्बन्ध हो गया था, पर अब यहाँ एक ऐसे वीर विजेता का आगमन हुआ, जिसके पराक्रम से मानों पृथ्वी काँपती थी, और एशिया के सुदूर पश्चिम तक के ही नहीं, पूर्वी योरप तक के अनेक राज्यों को राजनैतिक भूकम्प का अनुभव हुआ। इस समय पूर्वी एशिया में मंगोल जाति के लोगों की शक्ति बढ़ रही थी।

स्मरण रहे कि मंगोल और मुगल एक ही जाति के नाम थे। हाँ, जिन मंगोलों का यहाँ उल्लेख किया जा रहा है, वे मुसलमान न थे। वे तो मुसलमानों से बहुत लड़े थे। यहाँ तक कि उस समय के मुसलमान इतिहासकार उन्हें इसलामी सभ्यता

या तहज़ीब का सब से बड़ा दुश्मन मानते थे। वे मंगोल लोग पितृ-पूजा करते थे अर्थात् अपने पूर्वजों के (एवं सम्राटों के) पुजारी थे, जो वीर पूजा का रूप है। उनमें घोड़े की पूजा का चलन था, तथा बौद्ध धर्म को भी अपना रखा था। मंगोल खानाबदोश और हृष्ट-पुष्ट थे। ये मैदानों में, खेमों या डेरों में रहते थे। शहरों का रहनसहन इन्हें पसन्द न था। इनका जीवन सादा था। सभ्यता या शौक़ीनी से ये दूर थे। ये मेहनती, और कष्ट सहन करनेवाले थे। ये शिक्षित न थे। यह होते हुये भी इनमें संगठन-शक्ति विलक्षण थी। यही कारण है कि इनकी विजय अपने ढङ्ग की अनूठी और अद्वितीय रही।

सन् ११५५ ई० में मंगोल के एक सरदार के यहाँ एक लड़के का जन्म हुआ, जिसका नाम तिमूचीन या तेमूज़ीन था, परन्तु जो पीछे चंगेजखाँ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। खाँ, या खान शब्द लगा होने से बहुत से आदमी इन्हें मुसलमान समझ बैठते हैं; असल में यह मंगोल 'हान' कबीले का था। 'हान' शब्द बिगड़ कर 'खान' बन गया है। इसका अर्थ है महाराजाधिराज। पिता का देहान्त इसकी अल्पावस्था में ही हो जाने से, इसे उसके अधीन आदमियों में शांति रखने तथा कई प्रतिद्वन्दियों से आत्म-रक्षा करने में बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा; पर इससे इसे सेना-संग्रह, और युद्ध-विद्या का अच्छा अनुभव हो गया। फिर इसमें आत्म-विश्वास और दृढ़ता भी बहुत थी। ज्यों-ज्यों यह अपनी बाधाओं को दूर करने में सफल होता गया, इसकी महात्वाकाँक्षा या मनसूबा बढ़ता गया। पहले इसने विविध

मंगोल जातियों को अपने अधीन किया। फिर, सन् १२१२ ई० में उत्तरी चीन के किन सम्राट् पर धावा बोल दिया; पहली बार सफल न होने पर, अगले वर्ष यह दूने बल और उत्साह से, विशाल सेना लिए हुए, फिर आ धमका। कुछ समय तक लड़ते रहकर इसने उसके राज्य (उत्तरी चीन) का ख़ासा भाग ले लिया। इसका तथा इसके अनुयाइयों का यहाँ ऐसा प्रभुत्व हो गया कि अब चीन को मंगोल साम्राज्य का अंग माना जाने लगा।

इस समय चंगेज़ ख़ाँ की उम्र ५८ वर्ष की हो गयी थी। ऐसी अवस्था में आदमी प्रायः आराम करने की सोचा करते हैं, उनमें मेहनत करने की भी ताकत नहीं होती, फिर सैन्य-संचालन आदि की तो बात ही क्या! अधिकतर विजेताओं ने जो विजय प्राप्त की है, वह अपनी भरी जवानी में, तीस-चालीस वर्ष की उम्र के बीच में, की है। बाद में, यद्यपि उनमें अनुभव बढ़ जाता है, परन्तु अनुभव से लाभ उठाने की क्षमता नहीं रहती। चंगेजख़ाँ की यह विशेषता थी, कि अनुभव प्राप्त करते-करते वह अपने साहस और शक्ति को नहीं खो बैठा था, वह इनसे वंचित नहीं हो गया था। उसमें इन गुणों का विलक्षण मेल था।

चीन को जीत लेने के बाद सम्भव था कि वह अपने विजय के कार्य-क्रम से संतोष कर लेता। पर उसे अपने और भी अधिक पराक्रम का परिचय देने का अवसर मिल गया। इस समय ख़ारजम (पूर्वी ईरान) का बादशाह मोहम्मद था।

उसका राज्य भारत की पश्चिमोत्तर सीमा से लेकर बग़दाद तक फैला हुआ था। इस राज्य के एक प्रांत में मंगोल सौदागर मारे गये, और जब चंगेज़ख़ाँ ने इस विषय का विचार कराने के लिए सन्देश भेजा तो बादशाह ने इसके दूतों से भी दुर्व्यवहार किया। यह चंगेज के लिए असह्य था। उसने अच्छी तरह तैयारी करके अपनी फ़ौज के साथ पश्चिम को कूच कर दिया। कहते हैं कि चंगेज़ख़ाँ उसके विरुद्ध दो तीन लाख (कुछ लेखकों के मत से इससे भी अधिक) सैनिक, सहस्रों मील के ऊबड़-खाबड़ कटकाकीर्ण मार्ग से ले गया, और बीच में पड़ने वाले राज्यों को रौंदते हुए, नगरों को जलाते हुए तथा जनता को अधीन या बन्दी करते हुए, अथवा मृत्यु के घाट उतारते हुये अन्त में मोहम्मद के सामने जा डटा, और उसे हराकर उसका सब राज्य मंगोल साम्राज्य में मिला लिया। मोहम्मद के मरने के बाद उसका पुत्र जलालुद्दीन भारतवर्ष भाग आया तो यहाँ भी चंगेज़ख़ाँ की सेना ने उसका पीछा किया। इस प्रकार मंगोलों ने मुलतान और सिन्ध तक भारतवर्ष में भी प्रवेश किया।

चंगेज अब उत्तर में रूस की ओर बढ़ा। यहाँ भी उसने विजय प्राप्त की। हारना तो उसने सीखा ही न था। किन्तु इस समय उसे पूर्व की ओर सुव्यवस्था करने के लिए लौट आना पड़ा। सन १२२७ ई० में, बहत्तर वर्ष की उम्र में उसका देहान्त हो गया। उसका साम्राज्य पश्चिम में काले सागर से लेकर पूर्व में प्रशान्त महासागर तक फैला हुआ है। कितना विशाल था

वह साम्राज्य! और, एक ही पीढ़ी में, एक ही व्यक्ति द्वार स्थापित किया हुआ। यह हिसाब लगाया गया है उसके राज्य की लम्बाई पाँच हज़ार और चौड़ाई तीन हज़ार मील तक थी इस प्रकार यह एशियाई साम्राज्य अपने विस्तार में सिकन्दर सीज़र, और नेपोलियन के साम्राज्यों से बढ़कर था, जिन पर योरपवाले बहुत अभिमान किया करते हैं।

चंगेजखाँ विशेषतया अपनी क्रूरता, निर्दयता और अत्याचारों के कारण स्मरण किया जाता है, और इतिहास में प्राय उसे 'प्रचंड नर-संहारक' या 'दैवी विपत्ति' की उपाधि दी जाती है। अधिकाँश विजेता और साम्राज्य-संस्थापकों में ऐसे दुर्गुण थोड़े-बहुत होते ही हैं। फिर चंगेज़ाखाँ के विषय में अभी पूरा प्रामाणिक इतिहास प्रकाश में नहीं आया है। सम्भव है, भविष्य में, उसके विषय में इस समय की धारणा गलत साबित हो और वह संसार के कम-से-कम औसत दर्जे के गुण वाले विश्व विजेताओं की बराबरी कर सके। यह तो अब भी मान्य है कि उसमें धार्मिक विद्वेष या कट्टरता नहीं थी, वह चोरी और व्यभिचारी को घोर दंडनीय मनता था। उसने अपने साम्राज्य के विविध भागों में आमोदरफ्त सुगम करने के लिए बहुत सी सड़कें बनवाईं, तथा उसने बहुत कुछ असभ्य और बिखरे हुए आदमियों की विशाल सेना एकत्र करने तथा उसे कवायद और अनुशासन सिखाने में एक अद्भुत लोकनायक और संगठन-कर्ता के गुणों का परिचय दिया है। सुप्रसिद्ध यात्री मार्को पोलो के कथनानुसार चंगेज खाँ जब किसी प्रान्त को जीतता था, तो

वह उसकी प्रजा या सम्पत्ति को कोई हानि नहीं पहुँचाता था, वरन् वहाँ अपने कुछ आदमी रख कर दूसरे प्रान्तों को विजय करने में लग जाता था उसके पराजित प्रदेशों के निवासी उसके शासन और सुव्यवस्था से प्रसन्न होकर उसके अनुयायी बन जाते थे।

चंगेज पढ़ा-लिखा न था, उसके सरदार भी अपढ़ थे। एक स्थान से दूसरे स्थान पर संदेश ज़बानी भेजे जाते थे। यह स्थिति आश्चर्य-जनक है। इतने विशाल साम्राज्य का संचालन, आमोदरफ़्त के साधनों की कमी, और इस पर संदेश भी जबानी भेजा जाना! कैसे काम चलता होगा! पर चंगेज ने काम चलाया, और खूब चलाया। पीछे जब उसे मालूम हुआ कि लिखने जैसी कोई चीज़ होती है तो उसने अपने पुत्रों और सरदारों को इसे सीखने का आदेश किया। आज-कल मामूली अधिकारी भी कितने ठाट-बाट से रहते हैं! पर चंगेज इतने बड़े साम्राज्य का कर्ता-धर्ता था, तो भी इसकी राजधानी किसी बड़े शहर में न होकर मंगोलिया के एक मामूली से कस्बे में थी जिसका नाम कराकुरम था।

चंगेज की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र उगताई 'खान' बना यह अपने पिता तथा उस समय के साधारण मंगोल की अपेक्षा शान्ति-प्रिय था। उसने सुंग वंश के अधिकारियों से मेल करके उत्तर चीन के सम्राट् 'किन को परास्त कर दिया। पीछे उसका सुंग लोगों से युद्ध ठन गया। सन् १२४१ में उगताई का देहान्त हो गया, तब उसके उत्तराधिकारियों ने युद्ध जारी रखा। अन्त

में कुबलाई खाँ ने सुङ्ग राज्य पर अधिकार कर लिया। कुबलाई ने पीछे जापान, तिब्बत, टाँगकिंग और कोचीन चाइना पर धावा किया। यह सन् १२५६ में गद्दी पर बैठा, और १२८० में इसने चीन के सम्राट् के सब अधिकार ग्रहण कर लिए। यह चीन में बहुत समय रह चुका था, और इसे यह देश पसन्द था। यहाँ इसकी बनवाई हुई राजधानी पेकिंग के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसकी प्रभुता चीन और मध्य-एशिया के अतिरिक्त जापान, मलाया, और तिब्बत में, तथा योरप में रूस, हंगरी और पोलैंड तक मानी जाती थी।

मंगोल साम्राज्य की कैसी धाक थी! मंगोलिया या चीन से फ्रांस कितनी दूर है! और वहां का बादशाह लूई मंगोलों से दोस्ती करना चाहता था, जिससे इसलामी शक्तियों का सामना किया जा सके। परन्तु मंगोलों को ऐसी दोस्ती की कोई ज़रूरत नहीं थी। ये किसी जाति से धर्म के आधार पर लड़ना पसन्द नहीं करते थे। इन्हें न ईसाई शक्ति का भय था, और न मुसलमान का। संयोग से पश्चिमी योरप इनके अधीन होने से रह गया। मंगोल चाहते तो उसे सहज ही अपने अधीन कर सकते थे। एशिया और योरप भर में मंगोलों का आतंक था। जो देश स्वतन्त्र रह गये थे, वे अपनी ख़ैर मानते थे, और इस चिन्ता में रहते थे कि न-मालूम मंगोलों का धावा कब उन पर हो जाय। तेरहवीं सदी में लोगों को ऐसा मालूम होता था कि मंगोल दुनियां भर में अपना शासन स्थापित करने के लिये जन्मे हैं।

कुबलाई ख़ां सन् १२६२ ई० में मरा। इतने बड़े साम्राज्य को संभालना बहुत मुश्किल काम था। यह बंट गया और कमजोर होता गया। अगले शासक निर्बल और अयोग्य प्रमाणित हुए। जगह-जगह विद्रोह होने लगे। अंत में मंगोल सम्राट् चीन के एक मजदूर खानदान के आदमी चू-युआनचंग के सामने पीठ दिखा कर भाग गया। इस प्रकार मंगोल साम्राज्य का अंत हो गया।

मंगोलों को अपना प्राचीन वैभव अभी तक याद है, वे अपनी जहाँ-तहाँ फैली हुइ जाति का एक सुसंगठित राष्ट्र बनाने के इच्छुक हैं। चंगेज़ ख़ां ने जो विजय-पताका फहरायी थी, वह वह उसके वंशजों को बारम्बार स्फुर्ति प्रदान करती है, और वे यथा सम्भव उसका दृश्य पुनः संसार के सामने प्रस्तुत करने का स्वप्न देख रहे हैं। अस्तु, हमें अब यह विचार करना है कि मंगोल साम्राज्य का अन्त कैसे हुआ।

यह स्पष्ट है कि यह एक सैनिक साम्राज्य था। ऐसे साम्राज्य का बल उसकी विशाल और शक्तिशाली सेना के अतिरिक्त शूरवीर, साहसी और पराक्रमी सेना-नायक होता है। किन्तु एक सम्राट् के बाद आनेवाला दूसरा सम्राट् हमेशा चंगेज़ खां या कुबलाई खां के समान नहीं होता। समर्थ शासकों के पदारुढ़ होने की दशा में तो निर्बल जातियाँ भी सिर उठाती हैं, और इस बात का प्रयत्न करती हैं कि उनकी भूमि पर दूसरों का अधिकार न रहे। कभी-कभी तो उनमें आश्चर्यजनक उत्साह और उमंग आजाती है। वे जी तोड़ कर लड़ती हैं; रण-क्षेत्र में

मारना या मरना ही अपना धर्म समझती हैं। कभी-कभी तो स्त्रियाँ भी अपने देश की स्वाधीनता की रक्षा करने के लिये सहर्ष बलिदान हो जाती हैं। इस प्रकार अधीन जातियां पूरे बल से, अपने कंधों पर से साम्राज्य का जुआ फेंकने लगती हैं। निदान, सैनिक साम्राज्य की स्थिरता बहुत-कुछ सामर्थ्यवान प्रबल सूत्रधारों पर निर्भर रहती हैं। ऊपर यह बताया जा चुका है कि कुबलाई खां के बाद इस साम्राज्य के शासक निर्बल थे। स्वयं कुबलाई में, अपने पूर्वाधिकारियों की अपेक्षा बहुत परिवर्तन हो गया था। उसमें खानाबदोशी नहीं रही थी, वह नगर का जीवन व्यतीत करने वाला हो गया था। वह चीन के मामलों में लगा रहता (यहां उसने पेकिंग शहर में राजधानी बनवाई थी), उसने अपने विशाल साम्राज्य की ओर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया। इसका फल यह हुआ कि उसके कितने ही सूबेदारों में स्वाधीन होने की भावना पैदा हो गयी। फिर, यद्यपि कुछ मंगोल शासकों ने चीनियों से बराबरी का सा व्यवहार किया, चीन वाले उन्हें विदेशी ही मानते रहे, और उन्हें हटाने के लिए गुप्त समितियाँ बना कर, विविध प्रयत्न करते रहे। क्रमशः साम्राज्य के भिन्न-भिन्न भाग एक-दूसरे से पृथक् और स्वतंत्र होते गये। साम्राज्य का अंग भंग होना तो अन्ततः उसकी मृत्यु का ही लक्षण होता है और वह हुआ।

साम्राज्य इतना बड़ा था, और यात्रा के लिये साधनों की कमी थी! आदमी या तो घोड़े पर जाते थे, या पैदल। इस प्रकार साम्राज्य के एक दूसरे सिरे तक जाना-आना महीनों का काम

था, इसमें प्राय: पूरा वर्ष भर ही समाप्त हो जाता था। यह काम काफी मेहनत और थकान का था। इधर लूट, लड़ाई और विजय के कारण शासकों या सरदारों के पास पैसा हो गया था उनमें अमीरी के साथ विलासिता आगयी थी। मेहनत का काम स्वयं न कर, अपने नौकरों या गुलामों से कराने की आदत हो गयी थी। शासकों, अधिकारियों या सरदारों के ऐश्वर्य और विलासिता की गाड़ी खैंचने वाले किसान और मज़दूर होते हैं। इस गाड़ी का सामान बढ़ने का अर्थ सर्व-साधारण पर निर्धनता का भार बढ़ना होता है। भार, एक सीमा से बढ़ जाने पर खैंचने वालों की कमर तोड़ने वाला बन जाता है। फिर, मंगोलों ने चीन की सभ्यता स्वीकार करली थी, इससे उनकी सैनिक मनोवृत्ति और शक्ति का बहुत ह्रास हो गया। सभ्यता के ऐसे परिणाम का अनुभव इतिहास में बार बार हुआ है। अस्तु, निर्बल, अयोग्य विलासी, हां, 'सभ्य' शासकों द्वारा इस साम्राज्य की रक्षा कब तक होती! उसका पतन आवश्यक था, अनिवार्य था।

————

नवाँ अध्याय

ईरानी साम्राज्य

जिन के महलों में हज़ारों रंग के फानूस थे।
झाड़ उनकी कब्र पर है, और निशाँ कुछ भी नहीं ॥
जिनके डंके की सदा से गुँजते थे आस्माँ।
मक़बरों में दम बखुद हैं, निशाँ कुछ भी नहीं ॥

—बयां

बहुत समय हुआ, ईरानी देश का नाम तक बदल गया था, इसे 'फारिस' कहा जाने लगा था। पिछले दिनों यहाँ के बादशाह रजाशाह पहलवी ने यह घोषणा की कि इसके प्राचीन नाम 'ईरान' का उपयोग किया जाय। बात यह है कि इस देश की संस्कृति और सभ्यता इस प्राचीन नाम से ही अच्छी तरह व्यक्त होती है। 'ईरान' शब्द 'आर्याना' से बना है, जिसका अर्थ है 'आर्यों की भूमि'। इस नाम के साथ लोगों को पुश्तैनी प्रेम है, इसमें वे गौरव और अभिमान का अनुभव करते हैं। ये बातें 'फारिस' नाम में कहाँ! 'फारिश' शब्द परसू से बना है, जो इस देश का एक प्रान्त है।

ईरान की कथा काफी लम्बी है, पर हम बहुत पुरानी बातों को छोड़ देते हैं। हमारे लिए यही जानना आवश्यक है कि ईसा से सहस्रों वर्ष पहले पश्चिमी एशिया में समय-समय पर क्रमशः

बेबिलोनिया असुरिया (असीरिया) और मादे (मीडिया) इन तीन साम्राज्यों की स्थापना हो गयी थी। इन में से प्रत्येक अपनी परिस्थिति या अवसर के अनुसार दूसरे को नीचा दिखाने, तथा अपनी शक्ति बढ़ाने, की कोशिश में था। आखिर मादे को सफलता मिली।

ईसा पूर्व छठी शताब्दी में, एक नयी शक्ति का उदय हो जाने से, मादे भी पीछे रह गया। इस शक्ति का केन्द्र दक्षिण-ईरान था। यहाँ का पहला प्रसिद्ध पुरुष कुरू (साइरस) कहा जा सकता है। यह ईरान और बेबिलोनिया के बीच के एक पहाड़ी राज्य का राजकुमार था। इसने पहले मादे के प्रधान शासक से कई लड़ाइयाँ लड़कर, उसके अधिकारियों तथा अधीन राज्यों पर अपनी हुकूमत कायम की। फिर वह मादे और एलम का बादशाह बना। इस प्रकार ई० पू० सन् ५५० में इस नये साम्राज्य की नींव पड़ी। इसका श्रेय जैसा कुरू की वीरता तथा सैन्य-संचालन को है, वैसा ही मीड लोगों की निर्बलता को है। बहुत समय से उन्हें सैनिक शिक्षण नहीं मिला था. उनका शासक न केवल वृद्ध था, वरन् नाजुक-बदन और आरामतलब भी था। उधर ईरानी सिपाही साहसी और पराक्रमी थे। प्रोफेसर रॉलिनसन का मत है कि मीड साम्राज्य के पतन का तत्कालिक कारण ईरानी राजकुमार की प्रतिभा थी, परन्तु इसके विनाश की तैयारी पहले से हो चुकी थी, इसका अन्त मीड सम्राट् की अदूरदर्शिता से हुआ। अब ईरान बेबिलोनिया की बराबरी कर सकता था।

अनुसंधान से ज्ञात हुआ है कि कुरू को अपनी विजय म भारतवर्ष के सिन्धु प्रदेश के राजा से भी बड़ी सहायता मिली थी, और इसी से वह सफल मनोरथ हुआ। कुरू का दूसरा युद्ध लीडिया के धनी और महान साम्राज्य के विरुद्ध हुआ। लीडिया का राजा कारूँ एक धनवान व्यापारी जाति पर राज्य करता था, जो लघुएशिया के पश्चिमी भाग में थी, उसके अधीन ईजियन सागर और भूमध्य सागर के किनारे के बंदरगाह थे। उसके राज्य में बहुमूल्य धातुओं और व्यापारी माल की बहुतायत थी, पर वह विलासिता में डूब गया था। उसके धन सम्पत्ति पर कुरू का मन चलायमान हो गया, और उसने ऊँटों, घुड़सवारों और प्यादों की बड़ी-बड़ी पलटनों से उस की मशहूर राजधानी सार्डिस पर धावा बोल दिया। बहुत समय तक भयंकर युद्ध हुआ। इतिहास-लेखक हीरोदत्त (हिरोडाटस) का कथन है कि कुरू ने बुद्धिमत्ता-पूर्वक अपनी सेना में सब से आगे ऊँटों को रखा। इसका कारण यह है कि घोड़ों को उनकी शकल सूरत और गंध से बड़ी अरुचि होती है। लीडिया के घोड़े ऊँटों की वजह से भाग निकले, यद्यपि उनके सवारों ने प्यादों के रूप में अच्छी वीरता का परिचय दिया। अस्तु, अन्त में दोनों ओर खूब खून-खच्चर होने पर कारूँ बन्दी कर लिया गया, और कुरू उसके साम्राज्य का स्वामी हो गया।

क्रमशः आयोनिया (युनान) ने, तथा इजियन सागर के किनारे के उपनिवेशों ने भी कुरू की अधीनता स्वीकार कर ली। कुरू ने पूर्व की ओर भी विजय प्राप्त की। एण्डरसन का कथन

है कि यह पूर्व में उस समय तक विजय करता रहा, जब तक कि अफगानिस्तान, सिन्धु नदी की ऊपरी घाटियों, और बिलोचिस्तान, ने ईरान की प्रभुता स्वीकार न कर ली। अस्तु, इसके बाद ई० पू० सन् ५३९ में उसने प्राचीन असुरिया (असीरिया) साम्राज्य के खंडहरों पर बेबिलोनिया पर अधिकार करने की ठानी। बेबिलोनिया के सम्राट् नबोनिडास की ऐतिहासिक शोध में बहुत रुचि थी। उसने अपने साम्राज्य की चिन्ता न कर पुराने खंडहरों, मन्दिरों और देवताओं का ध्यान रखा। जब कुरू उसके प्रान्तों को अपने अधिकार में ला रहा था, तब यह सम्राट् भिन्न-भिन्न स्थानों से देव-मूर्तियाँ मंगा कर बेबिलोनिया में स्थापित कर रहा था। उसे आशा थी कि ये देवता उसकी रक्षा करेंगे। पर इस प्रकार रक्षा नहीं हुआ करती। बहुत समय तक लड़ाई के उतार-चढ़ाव और दाव-पेंच का अनुभव हुआ। अन्त में कुरू ने बेबिलोनिया को तथा उसकी हकूमत मानने वाले अन्य राज्यों, विशेषतया शाम (सीरिया), फिलिस्तीन और फीनीशिया (फोनेशिया) पर अधिकार कर लिया।

कुरू 'महान' का एक विशेष गुण यह था कि यह सब धर्मों के प्रति सहनशीलता का भाव रखता था। इसने अपने जीते हुए देशों के मन्दिरों या मूर्तियों को कोई नुकसान नहीं पहुँचाया। इसके पहले सम्राटों ने जिन लोगों की देव-मूर्तियाँ अपनी राजधानी में मँगवायी थीं, उनको इसने उदारता-पूर्वक वापिस लौटा दिया। यहूदियों पर, पहले अनेक 'धार्मिक' अत्याचार हुए थे, उन्हें इसके शासन में शान्ति और संतोष मिला। उन्हें इस

बात से बड़ी प्रसन्नता हुई कि इसने जेरूसलम के लिए उनकी जाति के ही शासक की नियुक्ति कर दी।

कुरू के पुत्र कम्बोजी के (केम्बीसेस) ने भी अपने पिता की भांति विजेता के रूप में ख्याति प्राप्त करनी चाही। यह महत्वाकांक्षी था। वह धनी प्रदेशों का अधिपति था, उसके पास अतुल सम्पत्ति और साधन थे। फलतः उसने मिस्र पर आक्रमण करने की सोची, और उसके लिए इस बात का आधार लिया कि जब कि उसका पिता लीडिया से लड़ रहा था तो मिश्र वालों ने लिडिया की सहायता की थी। निदान, कम्बोजी ने ईसा सन् ५२५ में मिश्र पर चढ़ाई करके, उसके बादशाह पेरो (फैराओ) को परास्त कर दिया। उसने मेंफी में भी शर्तें ठहराने के लिए दूत भेजा, मिश्रवालों ने जहाज को नष्ट करके सब आदमियों को मार डाला। इस पर मिश्र की राजधानी पर घेरा डाला गया, उस पर शीघ्र ही ईरानियों का अधिकार हो गया। फिर कम्बोजी ने, अपने दूत और उसके साथियों के मारे जाने का बड़ी बेहरमी से बदला लिया। पर उसने इथियोपिया पर चढ़ाई करके अपनी शक्ति का भी बहुत ह्रास कर डाला। रेगिस्तान में सेना को खाने-पीने को न मिला, और आंधी-तूफान से उसकी भयंकर क्षति हुई। इससे कम्बोजी बहुत विक्षिप्त सा हो गया; इस समय उसने सुना कि ईरान में कोई आदमी उसके भाई का नाम धारण कर राज्याधिकारी बन रहा है। वह बड़ी जल्दी में लौटने लगा, और शाम (सीरिया) के एक गांव में मर गया।

इस प्रकार कुरू और और उसके पुत्र कम्बोजी के समय में

पश्चिमी के एशिया के चार साम्राज्य मादे, लिडिया, असुरिया, और बेबिलोनिया, तथा अफ्रीका का एक मात्र साम्राज्य मिश्र, कुल मिलाकर पांच साम्राज्यों का पतन होकर ईरानी साम्राज्य का निर्माण हुआ। कम्बोजी के बाद इस साम्राज्य का उत्तराधिकारी सुप्रसिद्ध दारा हुआ। यह कुरू के वंश के यस्ताश्प (हिस्टापीज) का पुत्र था, और कुरू की लड़की से विवाह कर लेने के कारण, यह उस ईरानी साम्राज्य के महान संस्थापक का दामाद भी था। दारा ने माते, बेबिलोनिया और स्वयं ईरान के विद्रोहों का दमन किया, और साम्राज्य को बनाये रखने में बड़ी वीरता का परिचय दिया।

स्मरण रहे कि दारा का साम्राज्य कुछ ऐसा वैसा न था। यह सिन्धु नदी से लेकर ठेठ लघु-एशिया तक फैला हुआ था। मिश्र, तथा लघु-एशिया के कुछ यूनानी नगर इसके साम्राज्य में सम्मिलित थे। परन्तु मनुष्य की वासनाओं की कभी तृप्ति नहीं होती। विजेताओं को कुछ-न-कुछ जीतने की इच्छा बनी ही रहती है। दारा की, (पूर्वी) योरप को जीतने महत्वकांक्षा थी, जैसे कि कुरू की एशिया को, और कम्बोजी को अफरीका को जीतने की थी। योरप के पूर्वी तथा पूर्वोत्तर भाग में कुछ समय से शक (सीदियन) और अन्य लड़ाकू जातियों का ज़ोर था। दारा ने अपनी सेना से थ्रेस पर धावा किया, डेन्यूब नदी का पुल बनवा कर वह उसके पार पहुँच गया। दारा की शक्ति से प्रभावित शक आदि पीछे हटते गये। पर दारा की सेना भी उनका पीछा करने तथा

अपना बचाव करने में काफी थक गयी थी। कितने ही आदमी मर भी गये थे। अस्तु, जब दारा नीपर नदी क निकट था, उसने शक नरेश के पास चुनौती भेजी। परन्तु शक सेनापति ने भी बड़ी चतुराई से जवाब दिया कि 'जब तक हमारी इच्छा न होगी, हम तुमसे लड़ाई न लड़ेंगे; और, प्रभुत्व तो मैं स्वर्ग के बादशाह, और शक देवी वेष्टा के अतिरिक्त और किसी का नहीं मानता।' दारा ने उससे कहा था कि अधीनता स्वीकार करने के चिन्ह स्वरूप तुम मिट्टी और जल मेरे पास भेजो। परन्तु इसके बजाय दारा के पास एक पक्षी, एक चूहा, एक मेंढक और पाँच तीर भेजे गये। ईरानी युद्ध समिति इस पर बहुत चकित हुई, और इसने इन चार चीजों का संभावित अर्थ यह निकाला कि 'पक्षी बन कर आकाश में उड़ जाओ या चूहों की तरह बिलों में घुस जाओ, या मेंढकों की तरह दलदल में फँसो। अन्यथा तुम्हें हमारे तीरों का निशाना बन कर प्राण गँवाने पड़ेंगे।' अन्त में, जब दारा को यह ज्ञात हुआ कि इन भू-भागों में भयंकर सर्दी पड़ती है और उसे इस बात की भी आशंका जान पड़ी कि कहीं शक डेन्यूब नदी का पुल न तोड़ डालें, तो वह लौट आया; पीछे उसने पुल तुड़वा दिया।

यद्यपि दारा को इस घटना से बहुत कष्ट और क्षति हुई, वह हिम्मत हारने वाला न था। उसे अपनी सैनिक और द्रव्य शक्ति का भरोसा था, और साम्राज्य-विस्तार में वह इसका खूब उपयोग करना चाहता था। निदान, उसने यूनान पर इतिहास प्रसिद्ध-धावा किया। इस समय यूनान में एक सुप्रसिद्ध राज्य

एथन्स था। यहाँ के निवासियों ने बहुत राजनैतिक उन्नति की थी ये अपने स्वेच्छाचारी अधिकारियों ('टायरेंटों') के शासन से मुक्त हो गये थे,, और सब स्फूर्ति, उत्साह वीरता तथा त्याग के भावों से युक्त थे। एथन्स के विरुद्ध ईरानी सेना ईसा पूर्व सन् ४९० में भेजी गयी। यह संख्या में महान् थी, पर अनुशासन और देश-भक्ति में एथन्स वाले अधिक थे; उन्होंने इनको मेरेथन की लड़ाई में परास्त कर दिया।

कहा जाता है कि दारा ने अपने प्रसिद्ध सेनापति शाइलेक्स की अध्यक्षता में एक जहाजी बेड़ा सिन्ध नदी तक भेजा और पश्चिमी पंजाब का कुछ भाग अपने साम्राज्य में मिला लेने में सफलता प्राप्त की।

अपने शासन-काल के अन्तिम पाँच वर्ष दारा ने साम्राज्य को सुसंगठित और उन्नत करने का अच्छा प्रयत्न किया। उसने कानूनों तथा राजधम में सुधार किया, साहित्य और कला को प्रोत्साहित किया। उसने राज्य के भिन्न-भिन्न भागों के शासन के लिए 'शत्रप' पदाधिकारियों की नियुक्ति की। उसके समय के बने हुए विशाल महल, और मकबरे आदि ईरान की निर्माण-कला सम्बन्धी सुरुचि के सुन्दर प्रमाण हैं। छत्तीस वर्ष राज्य करके यह सम्राट् ई० पू० सन् ४८६ में मृत्यु को प्राप्त हुआ।

फारसी भाषा के सुप्रसिद्ध महाकवि फिरदौसी ने 'शाहनामा' नामक महाकाव्य में फारिस के अन्यान्य बादशाहों में दारा की भी लड़ाइयों का वृत्तान्त लिख कर उस समय की बातों को चिरस्मरणीय बना दिया है। इस समय भी अनेक स्थानों में

फारसी भाषा के विद्यार्थी और जानकार इस ग्रन्थ को बड़े चाव से पढ़ते हैं।

मेरेथान की लड़ाई के दस वर्ष बाद ई० पू० सन् ४८० में दारा का पुत्र सम्राट् जर्कसीज खूब भारी-भरकम सेना लेकर स्थूल मार्ग से यूनान पर चढ़ आया। उसने कई यूनानी उपनिवेशों, और यूनान के भी कुछ भागों पर अधिकार जमाने में कुछ सफलता प्राप्त की, परन्तु एथन्स, स्पार्टा तथा कुछ अन्य यूनानी नगर राज्यों ने मिलकर उसका खूब सामना किया, और अन्त में उसे पूरी तरह हरा दिया। जर्कसीज को लौटना पड़ा। अगले वर्ष स्पार्टा आदि ने उसके सरदार मारडोनियस को हरा दिया। यद्यपि यह युद्ध कुछ वर्ष तक चलता रहा, ईरान ने फिर कभी यूनान (एवं योरप) पर आक्रमण करने का साहस न किया। एशिया में भी ईरानवालों की पराजय रही।

जर्कसीज के पुत्र आर्त-ज़र्कसीज ने मिश्र पर पुनः आधिपत्य स्थापित किया, किन्तु उसने ईरानी साम्राज्य के उस पतन को रोकने का कोई उपाय न किया, जो दारा के शासन-काल में ही आरम्भ हो गया था। आने वाले समय में साम्राज्य का ह्रास बढ़ता गया। राजवंश में कलह और फूट थी। इधर मकदूनिया का फिलिप पश्चिमी एशिया पर धावा करने के मनसूबे बाँध रहा था। उसका बध हो जाने से एक बार तो यह आशंका होने लगी थी कि उसका पुत्र सिकन्दर उसके यूनान के राज्य को भी संभाल सकेगा या नहीं। परन्तु सिकन्दर ने निश्चय किया कि न केवल यूनान में ही शक्ति संगठित की जाय, वरन् उसके पिता

के एशिया-विजय के संकल्प को भी पूरा किया जाय।

ई० पू० सन् ३३४ में सिकन्दर ने एशिया पर आक्रमण करना आरम्भ किया। उसे विजय पर विजय होती गयी। ईरानी साम्राज्य की सबसे पश्चिमी राजधानी सार्डिस ने विजेता के लिए अपना फाटक खोल कर उसका हार्दिक स्वागत किया। जब सिकन्दर शाम (सीरिया) की सीमा पर पहुँचा तो ईरानी सेना ने उसका सामना किया। ईरानी सेना बहुत बड़ी थी, परन्तु संगठित न होने के कारण वह सफल न हुई। यूनानी सेना ने फीनीशिया को हरा कर दजला-फुरात (यूफ्रे-टीजटाइग्रीस) घाटी पार की। अब ईरानियों ने असुरिया (एसीरिया) की पुरानी राजधानी निनेवा के पूर्व में उसका सामना किया, यहाँ भी इनकी पराजय ही हुई। सार्डिस की भाँति अन्य कई ईरानी राजधानियाँ—बेबिलन, सूसा, परसे-पोली और एकबटाना—भी अपने धन सम्पत्ति सहित सिकन्दर के हाथ आ गयीं। कुरू का अन्तिम वंशज बेक्ट्रिया में, उस प्राँत के अधिकारी द्वारा मारा गया। इस प्रकार ईरान के साम्राज्य और ईरानी सम्राटों का अन्त हो गया।

परन्तु इसके साढ़े पाँच सौ वर्ष बाद एक बार फिर ईरानी साम्राज्य की स्थापना हुई। उसकी भी चर्चा कर ली जाय।

सिकन्दर के मरने पर हिन्दुस्थान की पश्चिमी सीमा से लेकर लघु-एशिया तक उसके सेनापतियों तथा वंशजों का राज्य हो गया। उनकी हकूमत लगभग तीन सौ वर्ष रही। पश्चात् मध्य एशिया की 'पार्थी' नामक खानाबदोश जाति ने उन्हें हरा

कर मार्दे के पूर्व में अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया, जिसे पार्थिया कहा जाने लगा। उसकी राजधानी आधुनिक तेहरान के निकट थी, पर जब उनका राज्य में पश्चिम बढ़ चला तो उसका मुख्य नगर टेसीफन हो गया—यह बगदाद से पन्द्रह मील दक्षिण पूर्व में था। इस राज्य के सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि शक्तिशाली रोम साम्राज्य भी इस पर अधिकार न कर सका। रोम सेनापति इसे जीतने के इरादे से आये, पर हार कर, और कई बार अपमानित होकर लौटे। असुरिया; मेसोपोटेमिया आदि पश्चिमी एशिया के कई राज्यों पर पार्थिया का ही अधिपत्य रहा।

यद्यपि पार्थिया निवासियों ने क्रमशः ईरानी भाषा और भेष ग्रहण किया, ईरानी उन्हें अपने पृथक् ही मानते रहे। इन दोनों जातियों का मेल नहीं हो पाया, कुछ विरोध चलता ही रहा। अन्त में सन् २२६ ई० में ईरानियों ने इन पर अपनी प्रभुता प्राप्त की और यहां दूसरा ईरानी साम्राज्य स्थापित किया। ईरानियों के इस राजवंश को सासानी वंश कहा जाता है। इस वंश के शुरू के अधिकारियों ने ज़रदुस्त-धर्म को राज-धर्म बनाया, इसके प्रचार का अच्छा प्रयत्न किया। तीन सौ वर्ष तक सासानी शासकों का अधिकांश समय और शक्ति रोमन सम्राटों के विरुद्ध उनके एशियाई राज्यों से लड़ने में लगी रही। आरम्भ में बहुत समय तक ये उन पर अधिकार जमाने में सफ़ल हुए। किन्तु पीछे गृह-कलह से इनकी शक्ति घट गयी। इन्होंने समय की गति के साथ चलना छोड़ दिया। इनका धर्म और संस्कृति

निर्जीव हो गये थे, पर ये उनके बिगड़े हुए रूप को ही पकड़े रहे, उसमें सुधार न किया। इन्हें अपनी 'सभ्यता' का अभिमान था; पर अब 'सभ्यता' का अर्थ विलासिता और ऐयाशी रह गया था। अब जनता में न ताजगी थी, और न बल था। अन्ततः इन्हें अपने अधिकृत प्रदेशों से वंचित होना पड़ा।

इस बीच में इसलाम धर्म के प्रवर्तक मोहम्मद साहब के नेतृत्व में, अरब में महान शक्ति का उदय हो गया था। ईरान वाले बाहरी आक्रमणों से बहुत थक चुके थे, आन्तरिक युद्धों से भी इनके बल का बहुत ह्रास हो चुका था। मुसलिम सेना ने इनकी राजधानी टेसीफन पर अधिकार कर लिया—यह नगर संसार भर के सबसे अधिक धनी देशों में से था; चार शताब्दियों से यह सम्राटों के वैभव का प्रदर्शक था नेहबन्द की लड़ाई में ईरान के इस दूसरे साम्राज्य का अन्त हो गया, अब से ईरान अरब के खलीफाओं के अधीन हो गया।

अरबों की विजय से ईरान में, यूनानी आक्रमणों की अपेक्षा कही अधिक परिवर्तन हुए। भाषा तथा शासन सम्बन्धी कुछ बातों को छोड़कर, प्राचीन ईरानी सभ्यता की सभी मुख्य बातें विलुप्त हो गयीं। जरदुश्त का चलाया हुआ धर्म कुछ थोड़े से लोगों में, 'पारसियों' में, रह गया।

इस प्रकार ईरान की भूमि ने कितने उलट-फेर देखे! पहले ईरानी साम्राज्य को यूनानियों ने नष्ट किया। पीछे, यूनानी अधिकारियों को पार्थियों ने हटा दिया। ये पार्थी कालान्तर में ईरानियों द्वारा हटाये गये! अन्त में यह दूसरा ईरानी साम्राज्य

इसलाम की अधीनता में आ गया।

यहाँ किसी समय में विपुल सेना के अस्त्रों से आकाश मेघाच्छन्न प्रतीत हुआ करता था! इस राज्य की फौज के कूच से मानों पृथ्वी हिलती थी। इसने अपने देशों और जातियों को रौंद डाला था। अब प्राचीन धूम-धाम और शानशौकत कहाँ! कहीं-कहीं केवल 'आतिशकदाँ' (अग्नि-स्थानों) तथा सूर्य मंदिरों के चिन्ह हैं, जो महात्मा जरदुश्त की याद दिलाते हैं,

ईरानी साम्राज्य के पतन के कारण इसकी कथा के सिल-सिले में बताये जा चुके हैं। यथापि कुछ विशेष प्रकाश डालना उपयोगी होगा। पहली बात तो यह है कि आरम्भ में जो जातियाँ संयम, सादगी और सहिष्णुता आदि गुणों का अच्छा परिचय देती हैं, वे भी साम्राज्य निर्माण कर लेने पर, दूसरों की प्रत्यक्ष या परोक्ष लूट से अपने को धनवान बना लेने पर, एवं लोगों को किसी न किसी रूप में दास बना लेने पर प्रायः इन गुणों से वंचित हो जाती है। ईरानियों के सम्बन्ध में यह बात बहुत ही लागू होती है। यह पहिले कठोर जीवन व्यतीत करने, और मादक पदार्थों से परहेज रखने में प्रसिद्ध थे, पर यूनियनों को इनका जो परिचय मिला, उससे ये रहन-सहन और खाने-पीने में विलासी तथा शराबी ही प्रतीत हुए। कहा जाता है कि मित्र (मथरा) के वार्षिक त्यौहार पर बादशाह को शराब पीने के लिए बाध्य किया जाता था। ईरानियों को यथा-सम्भव विश्व-विजयी होने की अभिलाषा थी, बार-बार उन्होंने पश्चिमी एशिया, यूनान मिस्र आदि देशों पर आक्रमण किये,

अपनी आन्तरिक उन्नति की ओर ध्यान न देकर, जब स्वार्थवश बाहर विजय करने में शक्ति को व्यय किया जाता है, तो उसका परिणाम अन्ततः घातक होने वाला ठहरा।

दूसरे ईरानी साम्राज्य के समय ईरान में धर्म की बहुत दुर्गति थी। सम्राट् ने जरदुश्त धर्म स्वीकार कर लिया था, (यह वही धर्म है, जो पारसी मानते हैं।) इस प्रकार यह धर्म राजधर्म हो गया था। सम्राटों पर पुजारियों और महन्तों का बहुत प्रभाव था, वे बहुधा धर्म के कट्टर अनुयायी होते थे। वे दूसरे धर्मों के प्रति सहनशील न थे। वे लोगों पर जबरदस्ती इस धर्म को लादते थे। यह बात धीरे-धीरे असह्य हो चली थी विशेषतया इसलिए कि धर्म में बाहरी आडम्बर और रीति रस्म को बड़ा महत्व दिया जाता था। प्रत्येक आदमी से यह आशा की जाती थी कि वह इन धार्मिक कृत्यों में भाग ले। पाखंड बढ़ गया था। छूत-छात की भावना बहुत फैल गयी थी। लोगों का सामाजिक जीवन बड़ा कष्टमय हो गया था। इस परिस्थिति का सामना इसलाम से हुआ। यह धर्म विचार-स्वतन्त्रता का प्रचारक था, सब धर्मों के प्रति सहनशील था, और ऊँच नीच का विचार न कर सब मुसलमानों की एक बिरादरी मानता था। यह स्वाभाविक ही था कि आदमी जरदुश्त धर्म के पुरोहितों और शासकों से पिंड छुड़ाने, और इसलाम की प्रभुता स्वीकार करने के इच्छुक हों।

इसके अतिरिक्त स्वार्थ और ईर्षा ने भी ईरानी राज-वंश को कमजोर कर दिया था। पारस्परिक सहयोग का अभाव था।

समय-समय पर गृह-कलह ने विकराल रूप धारण किया। जब ईरानी साम्राज्य इस प्रकार क्षीण हो रहा हो, तो वह उत्साही, मृत्यु से खेलने वाले, संगठित, और नये धर्म के जोश वाले अरब निवासियों के सामने नत-मस्तक हो गया, इसमें क्या आश्चर्य!

दसवाँ अध्याय

मिस्र का साम्राज्य

ऐ साक़ी ! अब रहे न वे दिन,
मदन केलि का समय नहीं ।
नहीं रङ्गशाला, रङ्ग-भीनी ,
गया साज-समाज कहीं ॥

—*किशोरीदास बाजपेयी*

मिस्र के गगन-चुम्बी मीनार अब भी इसकी उच्च शिखर पर पहुँची हुई प्राचीन सभ्यता की सूचना देते हैं । निस्सन्देह किसी समय यह शक्तिशाली साम्राज्य आकाश से बातें करता था । पर अब तो जमीन-आसमान का अन्तर हो गया । मिस्र के आधुनिक धर्म और सभ्यता में ऐसी बातों का प्रायः अभाव ही है, जो मिस्रवासियों को इस देश के प्राचीन धर्म और सभ्यता से जोड़नेवाली हों हजारों वर्ष जीवित रहकर भी आज वे लुप्त-प्रायः हैं । अब तो सवा हजार वर्ष से यहाँ अरबी धर्म और अरबी सभ्यता का बोल-बाला है । मिस्र की प्राचीनता की याद दिलानेवाली बातों में केवल उसके मीनार, विशाल मंदिरों के भग्नावशेष, और मृतकों के शव हैं । मिस्र की भूमि अब भी है, यहाँ आदमी भी रहते है, और हजारों वर्ष का रंग-बिरंगा इतिहास अपने हृदय पर धारण करने वाली नील नदी भी यहाँ

बहती है। पर प्राचीन मिस्र अब भूगोल और इतिहास की वस्तु बन गये।

अफ्रीका महाद्वीप में अकेला मिस्र ही ऐसा देश है, जहाँ प्राचीन काल में सभ्यता का विकास हुआ। संसार में पुरानी सभ्यताओं के केन्द्र प्रायः किसी नदी के किनारे, उपजाऊ भूमि में रहे हैं। मिस्र की सभ्यता का जितना श्रेय यहाँ के निवासियों को है, उतना ही यहाँ की नील नदी को दिया जा सकता है; यह मिस्र वालों के लिए ऐसी हो रही है, जैसी भारतवासियों के लिए सिन्धु या गंगा जमुना आदि।

मिस्र साम्राज्य की कथा बहुत पुरानी है, और इसका प्राचीन इतिहास अभी तक खोज का विषय बना हुआ है। दंत-कथाओं से, प्राचीन स्तूपों, मूर्तियों और खंडहरों आदि से, क्रमशः कुछ सामग्री संग्रह की गयी है। मिस्र के राज्य का इतिहास, कुछ लेखकों के मत से आठ हजार वर्ष का, और कुछ के मत से इससे भी अधिक समय का है। शुरू का हाल राज-वंशों के क्रमानुसार संग्रह किया गया है। अभी तक भी कुछ वंशों के समय-निर्धारण में बहुत मत-भेद है। प्रायः इतिहासकारों के अनुसार यहाँ प्रथम राज-वंश ईसा से लगभग ३४०० वर्ष पूर्व हुआ, और उसका संस्थापक मानी (मीनीज़) हुआ, परन्तु वास्तव में इस राज-वंश से पहिले कितने ही राज-वंश हुए, तथा इस राज-वंश में भी मानी से पहले कितने ही राजा हो चुके थे। अस्तु, मानी ने उत्तरी और दक्षिणी मिस्र को मिलाया और मेम्फी में राजधानी बनायी। मिस्र के प्राचीन शासक पेरो

(फैराओ) कहलाते थे। ये अपने आपको सूर्यवंशी मानते थे। क्रमशः मिस्र के शासकों ने अपने देश से बाहर, अन्य भागों को विजय करना आरम्भ किया। इस प्रकार मिस्र का साम्राज्य अठारहवें वंश में बढ़ा। इस वंश के आरम्भ होने का समय ई० पू० सन् १५८० माना जाता है। इसके संस्थापक अहमोसे ने पहले तो डेलटा के पूर्वोत्तर में हिक्सों* पर चढ़ाई करके उन्हें सीरिया तक खदेड़ दिया; मिस्र में मिस्र वालों का ही राज्य स्थापित किया। पीछे उसने दक्षिण-पश्चिमी फिलिस्तीन (पेलेस्टाइन) पर आक्रमण किया। उसने शाम (सीरिया) और न्यूबिया आदि में भी लड़ाइयां लड़ीं। तीस साल तक विद्रोह आदि से मुक्त रह कर, तथा सुख शान्ति का उपभोग करके मिस्र में अब युद्ध और विजय करने की लालसा जागृत हो गयी। उसके पास धन था, और शक्ति थी। अब वह मानों सैनिक राज्य हो गया था !

मिस्र के इतिहास में यह नया युग था। अब वह अपनी सीमा में परिमित रहना नहीं चाहता था। अब तो आक्रमणों और विजय का, महत्वाकाँक्षाओं और विस्तार-वृद्धि का ज़माना था। विजेता वंश के तीन शासकों ने अपनी शक्ति के स्थायी स्मारक छोड़े हैं। सम्राट् थुतमोसे (टेथमोसिस) प्रथम ने मिस्र के उत्तरी प्रान्तों को पूर्णतः अधीन किया, न्यूबिया पर आक्रमण

*हिक्सो (हाइक्स) का अर्थ गड़रिया है। ये लोग अरब आदि की मरूभूमि में घूमने वाले थे, इन्होंने मिस्र का कुछ भाग अपने अधीन कर लिया था।

किया, तथा शाम की ओर भी धावा किया, और फुरात नदी तक चढ़ाई की। तदनन्तर उसने अपनी राजधानी थीबी में विशाल स्मारक बनवाये। सम्राट् थुतमोसे द्वितीय ने अरब वालों पर धावा करके उन्हें परास्त किया। थुतमोसे तृतीय ने शाम के विद्रोहियों का दमन किया, वह अपने विरोधियों को हराता हुआ फुरात नदी के पार चला गया। उसने बेबिलन, इथियोपिया, असुरिया, और फीनीशिया आदि विविध राज्यों से भेंट ली। उसने अपने कैदियों की मजदूरी, तथा पराजित राज्यों की लूट और भेंट से अपनी राजधानी के मंदिरों का वैभव बढ़ाया। उसने अपने समय में मिस्र को संसार की एक प्रमुख शक्ति बना दिया। एक स्मारक से सूचित होता है कि उसके जहाजी बेड़े-काले सागर तक व्यापार करते थे। इस बात का भी प्रमाण मिलता है कि पश्चिम में एलजीरिया तक इस (थीबन) साम्राज्य का आधिपत्य था। और, उस प्राचीन समय में भूमध्यसागर 'मिश्र की नील' बन गया था।

थुतमोसे तृतीय के पुत्र अहमोसे द्वितीय ने असुरिया पर आक्रमण किया, और निनेवा को अपने अधिकार में ले लिया। जैसा कि पहले कहा गया है सम्राटों की इन विविध विजयों से, मिश्र को पराजित देशों से लूट-मार तथा भेंट आदि का अपरिमित द्रव्य एवं अनेक युद्ध के कैदी मिलते थे, जो मिश्र का बाहरी वैभव, निर्माण-कार्य, ऐश्वर्य और विलासिता बढ़ाने में सहायक होते थे। सम्राटों में, और उनके साथ अन्य उच्च

अधिकारियों में, दर्प और अहंकार तथा अभिमान आदि की मात्रा बढ़ती जाती थी।

सम्राट् अह्मोसे तृतीय (ई० पू० सन् १४००) का शासन फुरात नदी तक बना रहा, कोई उसका विरोध करने वाला न था। इस नदी के पार भी मितन्नी (मिटानी).असुरिया (एसीरिया) (एसीरिया) और बेबिलोनिया आदि के बड़े-बड़े राज्य उससे पत्र-व्यवहार करते तथा उसे अपनी लड़कियाँ देते थे। साइप्रस का बादशाह भी उसका सम्मान करता था। साम्राज्य के अन्तर्गत शाम (सीरिया) के खानदान के शासक जो अपनी भूमि पर शासन करते थे, वे व्यक्ति थे, जो उसके पिता द्वारा पराजित किये गये थे, और जिनकी शिक्षा-दीक्षा मिस्र में ही हुई थी; इस प्रकार ये पेरो के सेवक-मात्र थे।

सम्राट् अह्मोसे चतुर्थ की, कुछ लेखकों ने बहुत निन्दा की है। 'ऐनसाइक्लापीडिया ब्रिटीनिका' में भी इसके विरुद्ध बहुत-कुछ लिखा गया है। प्रायः लेखकों ने इसे समझने में. बड़ी भूल की है। वास्तव में वह संसार के सर्व-श्रेष्ठ पुरुषों में से हुआ है। मिश्र में इस समय विविध देवी-देवताओं की पूजा होती थी, मंदिरों में असंख्य सम्पत्ति लगी हुई थी, महन्तों और पुजारियों का जीवन बहुत पतित था, उनमें विलासिता और व्यसनों की भरमार थी, उनका जनता पर बहुत प्रभाव था। इस सम्राट् को प्रजा के धन तथा शक्ति का यह दुरुपयोग बहुत अखरा। उसने इसमें सुधार करने का बीड़ा उठाया, एकेश्वरवाद का प्रचार किया, और सूर्य को ईश्वर का रूप घोषित

किया। मिस्र में, अन्याय देवताओं में, 'आमन' की बड़ी भक्ति थी। सम्राट् के नाम का अर्थ भी 'आमन संतुष्ट है' था। इस सम्राट् ने इस नाम को बदल कर अपना नाम 'इखनातन' (सूर्य-भक्त) रखा। उसने स्मारकों पर से आमन की आकृति तथा नाम खुर्चवा दिया। सब स्थानीय मंदिरों में सूर्य की पूजा करायी जाने लगी। 'आमन' के मंदिरों में आने वाली सब भेंट तथा आय ज़ब्त करके लोकोपकारी कार्यों में लगायी जाने लगी।

इस सम्राट् का जीवन बहुत सादा था; यह धूम-धाम या शानशौकत पसन्द न करता था, यह सर्वसाधारण से मिलता, गलियों और मुहल्लों में जाता, लोगों की शिकायतें दूर करता, और उनकी उन्नति की बातों की ओर ध्यान देता। यह बात समाज के उच्च या प्रतिष्ठित वर्ग को अच्छी न लगी। धनी-मानी लोग तथा महन्त और पुजारी आदि इससे बहुत अप्रसन्न रहने लगे। पर इसने उसकी परवाह न की। इसने अपनी राजधानी, आमन के प्रसिद्ध नगर थीबी, का परित्याग कर, मरूभूमि के किनारे 'एल-अमरना' नामक एकान्त स्थाग में बनायी और इसका नाम 'अखेतातन' रखा। यह सम्राट् बहुत सरल और शान्त प्रकृति का था; और, साम्राज्य-शासन में भी इसकी नीति भारतवर्ष के अशोक की तरह उदार और अहिन्सक थी। शाम आदि के शासकों ने मिस्र की अधीनता त्याग कर स्वतंत्र होने का प्रयत्न किया, तो इसने उनका दमन करना पसन्द न किया। इससे इसके शासन-काल में साम्राज्य के कई प्रदेश अलग हो गये। उनमें मिस्र की

हुकूमत न रही। परन्तु इखनातन को इसकी चिन्ता न थी उसकी नीति निश्चत थी, जिस राज्य की इच्छा हो, साम्राज्‍ में रहे; इसके लिए किसी प्रकार का दबाव नहीं डाला जायगा

पीछे, हरमहिब गद्दी पर बैठा, तो शासन-प्रबन्ध में प्रब प्रतिक्रिया होने लगी। इसने समाज के धनी और प्रतिष्ठित लोगं को अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न किया, सर्वसाधारण जनत की अवहेलना की। अब मिस्र के प्राचीन धर्म का समर्थन किय गया, आमन की पूजा को प्रोत्साहन दिया गया। फिर, मदिरं और महन्तों का मान बढ़ा। साथ ही, साम्राज्य के जो प्रदे स्वतंत्रता का उपयोग करने लगे थे, उन्हें अधीन किया गया साम्राज्य का विस्तार बढ़ाने का उद्योग हुआ। सब नीति हं बदल गयी। परन्तु इसका परिणाम अच्छा न हुआ। साम्राज्‍ का विरोध करने वाले राज्यों की संख्या बढ़ती गयी।

ई० पू० सन् १३२१ में रमेश (रामसेस) ने उन्नीसवें वंश क स्थापना की। इसके पुत्र के बाद रमेश दूसरा, छोटी उम्र में ह गद्दी पर बैठा। इसने ६७ वर्ष राज्य किया; न्यूबिया, लिबिय तथा शाम आदि में कई लड़ाइयां लड़ीं, मिस्र की सब रियासत को मिला कर एक किया, और जगह-जगह अपने स्मारक ख कर दिये। इसका राज्य यूनान और फारिस तक फैला हुअ था। अरब का भी कुछ भाग इसके अधीन था। इस सम्राट् ं डेल्टा के पास की सीमा को दृढ़ करने के लिए किले बनवाये इसे 'महान' कहा जाता है। इसकी ख्याति विशेषतया इसकं राजधानी के वैभव और शान-शौकत, तथ विशाल मन्दिर

और आलीशान इमारतों के कारण हैं।

इस सम्राट् के अन्तिम दिनों में मिस्र की सैनिकता तथा वीरता लुप्त होने लगी। अब सेना के लिए सूडान, लिबिया और अन्य देशों से वेतन-भोगी आदमियों की भरती होने लगी। डेलटा की उपजाऊ और सम्पन्न भूमि में विदेशी आकर रहने लगे, और मिस्र के समुद्र तटीय प्रदेशों पर आक्रमण होने लगे।

ईसा पूर्व बारहवीं शताब्दी में पुरोहितों की शक्ति बहुत बढ़ गयी, और उसके साथ सम्राटों की सत्ता घट गयी। स्थान-स्थान पर पुरोहितों द्वारा शासन होने लगा। पीछे ईसा पूर्व दसवीं शताब्दी में मिस्र की शक्ति घटती गयी। देश, छोटे-छोटे सरदारों के नेतृत्व में परस्पर विरोधी सरकारों में विभक्त हो गया। बहुत मसय से यहाँ की सेना में लीबिया के सैनिक काम कर रहे थे, उनके सरदार बड़े-बड़े नगरों में बस गये, वे सम्पत्ति और शक्ति वाले होगये। मिस्र के बादशाह अधिकाधिक निर्बल होते गये। तेईसवें वंश के बादशाहों को अपने अधीन राजाओं पर कुछ अधिकार न था। चौबीसवें बंश के एक-मात्र बादशाह को इथियोपिया के आक्रमणकारियों ने मार डाला। पच्चीसवें वंश से इथियोपिया के शासक राज्य करने लगे।

ई० पू० सन् ५२५ में ईरान के सम्राट् कम्बोजी की सेना ने मिश्रके बादशाह को सिंहासन से उतार दिया। इससे यहाँ एक सीमा तक ईरान की हुकूमत हो गयी। पर मिश्र वालों में अभी हिम्मत थी। ई० पू० सन् ४०५ में उन्होंने अपनी स्वाधीनता पुनः प्राप्त की। परन्तु ई० पू० ३३२ में सिकन्दर ने मिश्र पर चढ़ाई

कर दी। उसने इसे विजय कर लिया। पेरो का यह साम्राज्य लगभग तीन हजार वर्ष, अथवा कुछ लेखकों के विचार से, इससे भी अधिक समय बना रह कर, अंत में विलीन हो गया।

अस्तु, प्राचीन मिश्र के इतिहास के अनुशीलन से, इस के सामाजिक नियमों, राजनैतिक कायदे-कानूनों, कृषि और सिंचाई की उन्नति, कला-कौशल, ज्योतिष, चिकित्सा एवं युद्ध-विद्या के ज्ञान और अनुभव से, इस में सन्देह नहीं रहता कि इस देश की सभ्यता अपने समय में, अन्य देशों की तुलना में खूब बढ़ी-चढ़ी थी। इसके इस समय बचे हुए खंडहर भी मनुष्यों को—अच्छे अच्छे वैज्ञानिकों को—चकित करने वाले हैं।

ऐसी महान सभ्यता वाले साम्राज्य का अन्त क्यों हुआ ?

इस साम्राज्य ने उन्नति तो खूब की, पर यह उन्नति अधिकाँश में भौतिक थी; शरीर सम्बन्धी थी, आत्मा की प्रायः उपेक्षा करते हुए थी। ऐसी एकाँगी उन्नति चिरस्थायी नहीं होती। एकबार उस पर प्रबल आघात हुआ कि उसमें उसे सहन करने की, उसका सामना करते हुये अपना अस्तित्व बनाये रखने की, क्षमता नहीं होती। साम्राज्य ने अपने शासनाधिकार से खूब धन कमाया। पराजित भागों से खूब आमदनी हुई। इस धन ने मिश्रियों को कमजोर और आरामतलब बना दिया, उन्हें कठोर सैनिक जीवन से विरक्त कर डाला। सब आवश्यकताएँ दासों द्वारा पूरी हो जाने से उन्हें हाथ-पाँव हिलाने की जरूरत न रही; उनमें साम्राज्य को संभालने की क्षमता कैसे रहती।

अपनी उन्नति और वैभव के दिनों में मिस्र अपनी तथा अपने साम्राज्य की रक्षा के लिए देश-प्रेमी सैनिक न दे सका। उसके पास धन था। धन से उसने जहाँ अपने ऐश्वर्य की और सामग्री ली, वहाँ उसके साथ, धन के बल से ही सैनिक भी प्राप्त किये। वे सैनिक मिस्र की सेना में केवल इसलिए थे कि उन्हें रुपया मिलता था, वे वेतन-भोगी थे। पर क्या वे उन सैनिकों की तुलना कर सकते थे जो देश से स्वाभाविक प्रेम रखते, और देश की सन्तान होने के कारण उसके प्राण न्यौछावर करना अपना कर्तव्य समझते थे ? अस्तु, विलासिता और ऐश्वर्य का उपयोग करने वाला साम्राज्य केवल वेतन-भोगी सैनिक ही रख सकता है, और इन सैनिकों का होना साम्राज्य की निर्बलता की सूचना है; चाहे साम्राज्य का अन्त होते-होते कुछ पीढ़ियां ही क्यों न बीत जायँ।

साम्राज्य में धार्मिक विद्वेष अधिक रहा। दूसरों के धर्म के सहनशीलता न थी। साथ ही अधीन देशों को खूब दबा कर रखा गया; उनके प्रति उदारता व्यवहार न किया। एक सम्राट् (इखनातन) ने साहस करके इस परिपाटी परित्याग किया, और अपने हृदय की विशालता का परिचय दिया। परन्तु वह बेचारा मरुभूमि के अकेले छायादार वृक्षकी तरह रह गया। उसके बाद, साम्राज्य उसके महान उदाहरण का अनुकरण न कर सका। उसकी नीति निभाने की बात तो दूर रही; उसकी प्रतिक्रिया हुई यह ठीक है कि इखनातन की उदारता से साम्राज्य का कुछ भाग इससे जुदा हो गया। परन्तु वह भाग भी साम्राज्य का

शत्रु नहीं बना था। अन्य भाग तो साम्राज्य में बने ही थे। अब नीति पलट देने का परिणाम क्या हुआ? जगह-जगह विद्रोह हुए, उन्हें खूब दमन करने का प्रयत्न किया गया। पर दमन का अस्त्र कब तक सफल हो सकता है। साम्राज्य-सूत्रधार बहुधा दूरदर्शी नहीं होते; वे ऐसी नीति बर्तना चाहते हैं, जिससे उस समय सफलता मिल जाय, पीछे चाहे जो हो। उनमें साम्राज्य की तृष्णा रहती है, वह तृष्णा पूरी नहीं होती। कुछ और, यही उनकी कामना रहती है। पेट भर जाता है, पर नीयत नहीं भरती। इसका दुष्परिणाम? बदहजमी और अपचन। साम्राज्य में बदहज़मी हो गयी, वह रोगी हुआ। और रोग का इलाज न होने पर तो मृत्यु आने वाली ठहरी।

यह कहा जाता है कि प्रकृति ने सहारा का क्षेत्र क्रमशः बढ़ा कर मिश्र की उपजाऊ भूमि को बहुत संकुचित कर दिया; हम इसके सम्बन्ध में विशेष विचार न कर, यही कहना चाहते हैं स्वयं मनुष्य पर पतन का उत्तरदायित्व कुछ कम नहीं है। ज्यों-ज्यों मिश्र ने पहले छोटी-छोटी रियासतों से एक बड़े राज्य का, और पीछे राज्य से एक बड़े साम्राज्य का स्वरूप ग्रहण किया, उसका हृदय उसी परिमाण में बड़ा न हुआ, वह छोटा ही रह गया; वरन् धन और सभ्यता के भार से वह और भी छोटा हो गया। तंगदिली से साम्राज्य का पतन अनिवार्य है।

ग्यारहवाँ अध्याय

यूनानी साम्राज्य

ज़मीने-चमन गुल खिलाती है क्या क्या,
बदलता है रंग आसमां कैसे-कैसे।
न गोरे सिकन्दर, न है कब्रे दारा,
मिटे नामियों के निशां कैसे-कैसे॥

मौजूदा योरप कई दृष्टि से यूनान का बच्चा है। योरप पर यूनानी विचार और यूनानी तरीकों का गहरा असर पड़ा है। लेकिन वह वैभव और शान, जो यूनान की थी। अब कहाँ है। इस पुरानी सभ्यता को गायब हुए अनेक युग बीत गये। —*जवाहरलाल नेहरू*

पिछले अध्यायों में एशिया और अफ्रीका के कुछ साम्राज्यों का विचार किया है। अब हम उस साम्राज्य के विषय में विचार करेंगे, जो योरप का सबसे प्राचीन साम्राज्य माना जाता है। यह साम्राज्य भी एक प्रकार से है तो एशियाई ही; अथवा यों कह सकते हैं कि वह जितना योरपीय है, उसकी अपेक्षा एशियाई अधिक है। वह बाहरी दृष्टि से योरपीय है, और सूक्ष्म विचार से एशियाई। यह साम्राज्य है, यूनानी साम्राज्य।

वर्तमान योरपीय सभ्यता का स्रोत रोम माना जाता है, और योरप का यह आदि-गुरू रोम स्वयं यूनान का शिष्य था।

प्राय: योरपीय इतिहासकारों का कथन है कि योरप में सबसे पहले यूनान वालों ने दूर-दूर अपनी बस्तियां बनायीं, वे भू-मध्य सागर के चारों ओर फैल गये। और उन्होंने अफ्रीका के उत्तर और योरप के दक्षिण के अतिरिक्त, एशिया के पश्चिम भाग में अपनी बस्ती स्थापित की। असल में, प्राचीन यूनानी, आर्य ही थे। आर्य लोगों ने एशिया से पश्चिम की ओर बढ़ते-बढ़ते यूनान और इसके आस-पास के प्रदेशों पर अधिकार कर लिया था। इस प्रकार पश्चिमी एशिया के प्रदेशों में यूनान की बस्तियाँ न होकर, स्वयं यूनान ही पश्चिमी एशिया के आर्यों का उपनिवेश था।

कई युगों तक एशिया योरप पर हावी रह चुका है। एशियाई लोगों की बाढ़ की बाढ़ योरप जाती रही है, और उसे फतह करती रही है। इन लोगों ने योरप को उजाड़ा भी, और उसे सभ्यता या तहजीब भी सिखायी। आर्य, शक, हूण, अरब, मंगोल और तुर्क ये सब एशिया के किसी न किसी हिस्से से आये थे, और योरप और एशिया के चारों ओर फैल गये थे। ये एशिया में टिड्डी दल की तरह बेशुमार तादाद में पैदा होते रहे। सच तो यह है कि योरप बहुत दिनों तक एशिया का उपनिवेश रहा है, और उसकी बहुत सी जातियां एशिया से गये हुए हमला करने वालों की सन्तानें हैं। [श्री० जवाहरलालजी नेहरू, 'विश्व इतिहास की झलक' में]

यूनान कोई एक संयुक्त देश नहीं है। यह कई टापुओं या प्रायद्वीपों का समूह है, इनमें से एथन्स, स्पार्टा, कारिन्थ और मकदूनिया आदि ने समय-समय पर इतिहास-प्रसिद्ध कार्य किये हैं। प्राचीन यूनान का प्रत्येक नगर, जब बलवान होता था, अपना छोटा सा स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लेता था। बहुधा

बलवान नगर निर्बल को थोड़ा-बहुत अपने अधीन कर लिया करता था। कुछ हिस्सों में कई कई नगर मिलकर एक संघ बना लेते थे, तब भी संघ का प्रत्येक नगर अपना आन्तरिक प्रबंध स्वयं करता था प्रत्येक नगर अपने अपने अलग-अलग उपनिवेश स्थापित करता था।

ईरान के साम्राज्य के प्रसंग में, यह बताया जा चुका है कि वहाँ के बादशाह ने यूनान पर धावा किया था. जिसमें अन्ततः ई० पू० सन् ४६० में मेरेथान नामक स्थान पर यूनानियों की, अथवा यों कहिए कि एथन्स वालों की, विजय हुई। यूनान के एक छोटे से नगर-राष्ट्र ने ईरान के विशाल साम्राज्य की सेना को कैसे परास्त कर दिया? इसका रहस्य इस बात में है कि प्रथम तो एथन्स वालों को अपने नगर में ही रहकर लड़ना था, और उन्हें सब प्रकार की स्थानीय सुविधाएँ प्राप्त थीं, जबकि ईरान वालों को, अपने स्थान से बहुत दूर, दूसरे के राज्य में जाकर लड़ना था। इसके अतिरिक्त, एथेन्स वाले अपनी मातृभूमि की स्वाधीनता के लिए, अपने भाई-बन्धुओं और माँबहिनों के हित के लिए, और अपनी भावी पीढ़ियों के वास्ते, लड़ रहे थे; इसके विपरीत, ईरानी सेना में भिन्न-भिन्न जातियों या समुदायों के आदमियों का समावेश था, जो केवल इसलिए लड़ते थे कि उन्हें लड़ने के लिए वेतन मिलता था। ऐसे लोगों में वह साहस, अपनी जान जोखम में डालकर भी ध्येय-प्राप्ति का उत्साह, कहाँ हो सकता है, जो उनके विपक्षियों में था! अस्तु, दारा की विफलता बहुत आश्चर्य-जनक नहीं है। कुछ समय बाद वह ईरान में मर

गया, और जरक्सीज वहां की राजगद्दी पर बैठा। इसने भी यूनान को विजय करने के लिए खूब तैयारी की ! ई० पू० सन् ४८० में एक विशाल जहाजी बेड़ा तैयार कराया गया। परन्तु संख्या-बल में ईरान की सेना, यूनानी सेना से कई गुनी थी, तो शिक्षा, स्वास्थ्य, और देश-भक्ति में यूनान वाले कहीं बढ़-चढ़ कर थे। फिर इस अवसर पर यूनान के विविध राज्य विशेषतया एथन्स और स्पार्टा अपने पारस्पारिक भेद-भावों को भुलाकर एक हो गये थे। सबका ध्यान एक ही बात की ओर लगा था; सबका मुख्य विचार था स्वदेश-रक्षा और स्वदेश की स्वाधीनता। ईरानी और यूनानी सेनाओं की मुठभेड़ हुई। ईरान के सम्राट् को मुंह की खानी पड़ी, और वह निराश होकर अपने राज्य को लौट आया।

यद्यपि ईरान से लड़ने में स्पार्टा ने एथन्स से भरसक सहयोग किया था, पीछे ये दोनों राज्य आपस में लड़ बैठे। इस गृह युद्ध में स्पार्टा विजयी हुआ। कुछ समय तक यूनान में इसका बोलबाला रहा। पीछे मकदूनिया (मेसिडोनिया) का उदय हुआ। यहाँ के शासक फिलिप ने इस राज्य की शक्ति बढ़ायी और कई प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। स्पार्टा को छोड़ कर, अन्य सब यूनानी राज्यों ने उसकी प्रभुता मान ली। पश्चात्, यह ईरान के बादशाह से, यूनान पर किये गये आक्रमणों का बदला लेने के लिए प्रधान सेनाध्यक्ष निर्वाचित किया गया। वह इस युद्ध की तैयारी में ही था कि मृत्यु ने उसे आ दबाया।

इस वीर और चतुर पुरुष का पुत्र था सिकन्दर, जो पीछे

'महान' पद पाकर संसार के सुप्रसिद्ध व्यक्तियों में गिना जाने लगा। बाल्यावस्था में ही इसमें साहस, निर्भीकता और प्रतियोगिता का समुचित भाव था। कहा जाता है कि वह अपने साथियों से कहा करता था कि मेरे पिता सब भू-भागों को जीत रहे हैं, क्या वह मेरे जीतने के लिए कुछ भी न छोड़ेंगे। यह भावना उसके भावी जीवन में खूब विकसित हुई। वह अपने पराक्रम से लोगों को अधिकाधिक चकित करता रहा। योरप में वह सबसे पहला आदमी कहा जा सकता है, जिसने वैज्ञानिक रूप से सैनिक प्रबन्ध किया। वह बहुत उत्तम संगठन करता था, और सैनिक नेता के गुणों से सुसम्पन्न था। अपने पिता के विजय-कार्य को पूरा करने के लिए वह पूर्णतः कटिबद्ध हुआ, और ई० पू० सन् ३३४ में अपनी महान् यात्रा के वास्ते रवाना हो गया। अगले छः वर्ष में उसने तीन प्रसिद्ध लड़ाइयाँ लड़ कर मिस्र में अपना सिक्का जमा लिया, तथा ईरान के समस्त साम्राज्य को अर्थात् शाम (सीरिया), फिनीशिया, फिलिस्तीन (पेलेस्टाइन), बेबिलन, बेक्ट्रिया, और ईरान आदि देशों पर अधिकार कर लिया। वह अपनी विजय-यात्रा में आगे बढ़ता गया। ई० पू० सन् ३२७ में उसने हिन्दूकुश पर्वत को पार कर वर्तमान अफगानिस्थान और पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त की स्वाधीन जातियों को परास्त किया। पश्चात् वह सिन्धु नदी पर पुल बनवाकर इस ओर आ गया।

भारतवर्ष में उसने जेहलम तक आकर, तक्षशिला आदि स्थानों में पश्चिमी पंजाब की कई जातियों से अधीनता स्वीकार

करायी और उपहार ग्रहण किये। फिर वह राजा पुरू (पोरस) पर चढ़ाई करने के लिए आगे बढ़ा, जो उस समय जेहलम और चनाब के बीच के प्रदेश का शासक था। पुरू ने स्वाभिमान और वीरता-पूर्वक उसका सामना किया। घनघोर युद्ध हुआ, अन्त में पुरू बहुत जख्मी होकर पकड़ा गया, और सिकन्दर के सामने लाया गया। सिकन्दर के यह पूछने पर कि तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार किया जाय, उसने निर्भीकता से उत्तर दिया 'जैसा एक बादशाह को दूसरे बादशाह के साथ करना चाहिए।' सिकन्दर एक वीर पुरुष था, और उसने इस अवसर पर इस बात का परिचय दिया कि वह वीरों का आदर करना जानता है। पुरू का उत्तर सुनकर वह बहुत प्रसन्न हुआ। उसने उसके साथ मित्रता की संधि करके, उससे जीता हुआ प्रदेश उसे लौटा दिया।

सिकन्दर की विजय-पिपासा अभी शान्त नहीं हुई थी, वह अभी और भी पूर्व के भागों को जीतने का अभिलाषी था। परन्तु, उसके मन की मन में ही रही। उसे शीघ्र ही लौटना पड़ा। थक जाने के कारण, तथा यहाँ के आदमियों की अद्भुत वीरता देखकर, उसकी सेना ने आगे बढ़ने का साहस न किया हाँ, लौटते हुए, कुछ प्रदेशों को जीतते गये। एक दरबार किया गया, जिसमें कितने ही राजाओं ने भाग लिया। सिकन्दर ने अपने जीते हुए प्रदेशों की व्यवस्था करने के लिए उन्हें भिन्नभिन्न शासकों में विभक्त कर दिया। पश्चात् रास्ते में, सिकन्दर बेबिलन में ठहरा। उसका विचार था कि इस नगर को वह अपने ईरानी और

यूनानी मिश्रित साम्राज्य की मध्यवर्ती राजधानी बनाये। परन्तु उसकी मद्यपान करने की आदत, यहाँ के जल-वायु में, उसके स्वास्थ्य के लिए हानिकर सिद्ध हुई। यद्यपि मिस्र और लघु-एशिया के भिन्न-भिन्न स्थानों में उसने बड़े-बड़े नगरों, नहरों और सड़कों आदि का निर्माण कराया. वह साम्राज्य के संगठन, सुव्यवस्था और प्रबन्ध के लिए यथेष्ट अवसर न पा सका, और ई० पू० सन् ३२३ में, केवल ३३ वर्ष की आयु में इस संसार से विदा हो गया।

यह बताया जा चुका है कि वास्तव में यूनान पश्चिमी एशिया के आर्यों का उपनिवेश था; फिर, सिकन्दर की जन्म-भूमि पूरे तौर से यूनानी थी भी नहीं। तथापि योरप वालों की दृष्टि से कहा जा सकता है कि सिकन्दर पहला योरपियन था, जिसने योरप के बाहर इतना भू-भाग विजय किया। उसका सारा जीवन आक्रमण और विजय में ही व्यतीत हुआ। उसकी महत्वाकांक्षा इतनी बढ़ी हुई थी, कि यदि वह कुछ समय और जिन्दा रहता तो वह अपना समय और शक्ति इसी में लगाता।

सिकन्दर की विजय से योरप एशिया के विविध देशों के, तथा मिस्र आदि के, निवासी एक दूसरे के सम्पर्क में आये, और उनमें विचार-विनिमय की वृद्धि हुई। वह कितने ही आदमियों को योरप से एशिया लाया, और एशिया से योरप ले गया। वह एक ऐसे महान साम्राज्य का निर्माण करना चाहता था, जिसमें एशिया और योरप का, पूर्व और पश्चिम का, भिन्न-भिन्न जातियों और संस्कृतियों का, मिश्रण हो; कुछ

भेद-भाव न रहे। बादशाह सबको समान दृष्टि से देखे, यूनानी और गैर यूनानी (बर्बर) का अन्तर न रखे, बादशाह भी चाहे किसी जाति का हो, उसके सुव्यवहार से सब उसे अपनी जाति का मानें, किसी के मन में यह भावना न आवे कि हम विदेशी शासकों द्वारा शासित हो रहे हैं। सिकन्दर यह सोचता रहा कि मेरे साम्राज्य की राजधानी किस जगह बनाना उचित होगा, जिससे एशिया और योरप वालों का बराबर सम्बन्ध रहे। उसने कई जगह नगर बसाये, परन्तु वह अन्त तक भी यह निश्चय न कर सका कि राजधानी कहां बनायी जाय।

यह कहा जाता है कि सिकन्दर में पीछे जाकर अहंकार, और अभिमान बहुत हो गया था, और वह विजतों और विरोधियों के साथ निष्ठुरता का व्यवहार करता था। इस सम्बन्ध में स्मरण रखना चाहिए कि जब भुजाओं में बल होता है, लक्ष्मी पास होती है, और सत्ता तथा अधिकार रहता है तो अपने ऊपर पूर्ण नियंत्रण करने वाले व्यक्ति बिरले ही मिलते हैं। साधारण आदमी भी जवानी के जोश में भूलें करते हैं, फिर एक इतने बड़े विजेता ने अपने व्यवहार में त्रुटियाँ की हों तो क्या आश्चर्य ! जहाँ तक हमें मालूम हो सका है, उसमें ये दुर्गुण अपनी श्रेणी के एक औसत दर्जे के व्यक्ति से अधिक न थे। भारतवर्ष में राजा पुरु के साथ उसका जो सद्व्यवहार रहा, उसका जिक्र पहले किया जा चुका है। हाँ, सिकन्दर शराब पीता था, और उसके नशे में वह अपने आपको भूल गया और कोई अनुचित

कार्य कर बैठा तो यह और बात है। साधारणतया, वह अच्छा आदमी था, और उसके सामने एक महान् आदर्श था।

सिकन्दर के आक्रमण का भारतवर्ष पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। भारतवर्ष, ईरान और यूनान में पहले से भी कुछ आमद-रफ़्त थी, अब सम्पर्क और भी बढ़ गया। भारतवर्ष का 'इण्डया' नाम यूनानी 'इंडास' (इंडास = सिन्धु) से बना है। यूनानियों ने भारतीय विद्वानों और दार्शनिकों से बहुत-सी बातें ग्रहण की। ईरानी तो यूनानवालों के निकट ही थे; उनकी सभ्यता का यूनान पर खासा प्रभाव पड़ा। जब जातियों या संस्कृतियों का मेल होता है तो उनमें परस्पर लेन-देन होता ही है।

सिकन्दर का विशाल परन्तु बिखरा हुआ साम्राज्य उसके देहान्त के बाद, कुछ ही वर्ष तक रह पाया। यह बहुत ही शीघ्रता से बढ़ा था, और बात-की-बात में नष्ट हो गया। सिकन्दर के वंश में कोई ऐसा व्यक्ति न था, जो इसे संभाल सकता। साम्राज्य के विविध भाग उसके सेनापतियों में विभक्त हो गये। कभी किसी सेनापति का प्रभुत्व हुआ, कभी किसी का। इनका आपस में खूब संघर्ष रहा। अन्त में फारिस और शाम (सीरिया) सेल्यूकस और उसके वंशजों के हस्तगत हुए, और मिश्र टालमियों के।

यूनान और मकदूनिया में भी काफी उथल-पुथल रही। पीछे जाकर मकदूनिया ने यूनान के अधिकांश, विशेषतया उत्तरी भाग पर अधिकार प्राप्त किया। अन्त में ईसा पूर्व दूसरी

शताब्दी में सभ्य यूनान असभ्य रोम के आधिपत्य में आकर रहा। परन्तु इस से यूनान के रीति-रिवाज और धार्मिक या सामाजिक उत्सवों में कोई अन्तर नहीं आया; इसके विपरीत रोम वाले ही उन्हें अपनाने लगे। इस प्रकार यूनान ने अपने विजेताओं पर मानसिक विजय प्राप्त की। हाँ, यूनान अपनी राजनैतिक स्वतंत्रता खो बैठा, यद्यपि रोम के अधिकार में आने के लगभग साठ वर्ष बाद उसने एक बार उसे फिर प्राप्त करने का प्रयत्न किया, पर वह सफल न हुआ। विश्व-विजय की आकाँक्षा करने वाले सिकन्दर का राज्य चिरकाल के लिए स्वयं दूसरों के अधीन हो गया।

इस साम्राज्य के पतन के कारण कुछ रहस्यमय नहीं है। धन बढ़ा, सभ्यता बढ़ी, विलासिता आयी। मद्यपान का तो खूब ही दौर दौरा रहने लगा। रात को मद्यपान के साथ नाच-खेल भी होते थे। साधारण स्थिति के आदमी भी समय-समय पर अपने मित्रों आदि को मद्यपान के लिए आमंत्रित करते थे। मद्यपान करते हुए ही एक दूसरे की आरोग्य-कल्पना करने की भी चाल थी। खुशी के अवसरों पर तो मद्यपान के साथ वेश्या-नृत्य आदि भी खूब होता था। आदमी धीरे-धीरे आरामतलब हो गये। ये युद्ध-विद्या से विमुख रहकर व्याख्यान या भाषण आदि में अपनी चतुराई दिखाने लगे। सेना अब वेतन-भोगी आदमियों की रहने लगी, कर भार बढ़ गया, आर्थिक स्थिति शोचनीय हो गयी।

यूनान की स्वतत्रता का आदर्श बहुत संकीर्ण था। निस्संदेह

उसने राष्ट्रीय तथा व्यक्तिगत दोनों प्रकार की स्वतंत्रता का महत्व समझ लिया था। उसने जान लिया था कि राज्य को दूसरों के हस्तक्षेप से मुक्त रहकर अपना प्रबन्ध स्वयं करना चाहिए; साथ ही, प्रत्येक नागरिक को शारीरिक, मानसिक तथा धार्मिक स्वतंत्रा रहनी चाहिये, समाज को किसी के कार्य या विचारों आदि में दखल न देना चाहिये। यूनान ने इस बात का प्रयोग किया कि प्रत्येक नागरिक को राज-कार्य में भाग लेने का अधिकार हो। परन्तु दोनों ही प्रकार की स्वतन्त्रता के आदर्श में कमी रही। जिस यूनान ने अपनी स्वतंत्रता का मूल्य समझा, खेद है कि वही साम्राज्याभिलाषी बन गये, उसने दूसरे राज्यों की स्वतन्त्रता का ह्रास किया। उसने कभी यह विचार नहीं किया कि स्वतंत्र राज्यों से भी उसका सम्बन्ध या व्यवहार हो सकता है। उसने अपने सिवा सब देशों को 'असभ्य' समझा, और शक्ति भर इन असभ्य भागों के निवासियों को विजय करने में लगा रहा; संधि करने की बात उसके ध्यान ही में न आयी। पुनः यूनान के विविध नगर राज्यों का बहुधा परस्पर में भी मित्रता का व्यवहार न रहता था। एक राज्य, बल पाकर दूसरे की स्वतन्त्रता अपहरण करने का इच्छुक रहता था, वह स्वतन्त्रता को अपने ही नगर की चार-दीवारी के भीतर कैद करके रखना चाहता था।

अपने बल-मद में, यूनानी अपने विद्वान थ्यूसीडाइडीस के इस कथन को भूल गये कि जो व्यक्ति अपने को आवश्यक प्रतीत होने वाली वस्तु दूसरे को देने में इनकार करता है, उसे

वह वस्तु नहीं पचती, शीघ्र ही उन्हें इससे वंचित होना पड़ा।

फिर यूनान का व्यक्तिगत स्वतंत्रता का विचार और आदर्श उन लोगों तक परिमित रहा, जिन्हें 'नागरिकता' प्राप्त थी। इनकी संख्या कुल जन-संख्या का एक छोटा-सा भाग था। एथन्स आदि नगरों में 'नागरिक' से कई गुना जन-समुदाय गुलामों का, अथवा ऐसे लोगों का था, जिन्हें नागरिक अधिकार प्राप्त न थे। यूनानी समाज में स्त्रियों का पद भी बहुत नीचा माना जाता था। इन्हें भी नागरिकों में नहीं गिना जाता था। क्या यह चिन्तीय नहीं है कि सभ्यता का दम भरनेवाला यूनान गुलामी का समर्थन करे, और अनेक गुलाम रखे? साधारण आदमियों की बात अलग रही, यहाँ के अच्छे-अच्छे सुप्रसिद्ध दार्शनिक और विद्वान भी अपने समय के प्रवाह में बह गये, वे उससे न बच सके। अरस्तू का मत था कि गुलामी समाज के लिए स्वाभाविक और आवश्यक है। कुछ आदमी बुद्धि-हीन होने के कारण, गुलामी के ही योग्य होते हैं। अफलातून (प्लेटो) को यह तो पसन्द न था कि यूनानवाले गुलाम हों, पर वह भी यह आवश्यक समझता था कि बहुत से विदेशी गुलाम रहें। निदान, यूनान में कई प्रकार के गुलाम रहते थे। युद्ध के कैदी तो गुलाम होते ही थे। स्वतन्त्र नागरिक अपनी संतान को बेच सकते थे; यह संतान अपने खरीदारों की गुलाम होती थी। कर्जदार को, ऋण चुकाने के समय तक, अपने महाजन का गुलाम होना पड़ता था। गुलामों से खेती, मजदूरी, घरेलू चाकरी आदि विविध काम लिये जाते थे। प्रायः इन्हें सामाजिक या

राजनैतिक कुछ भी अधिकार नहीं होते थे। हाँ, इनके प्रति ऐसी निर्दयता नहीं होती थी, जितनी पीछे रोम साम्राज्य में होने लगी।

इस प्रसंग में यह बात भी उल्लेखनीय है कि पिछले दिनों में यूनान में कोरे दार्शनिकों की बहुत वृद्धि हो गयी थी। साँसारिक बातों की ओर ध्यान कम दिया जाने लगा था। उच्च विचारों के चिन्तन और मनन का यथेष्ट महत्व है, परन्तु संसार का काम चलाने के लिए, संसार का होकर रहना चाहिए। अपनी व्यक्तिगत आध्यात्मिक उन्नति की ही बातें सोचनेवाले और अपने भाई बन्धुओं के हित के रोज़-मर्रा क कार्यों में योग न देनेवाले व्यक्तियों से राज्य या साम्राज्य का भार नहीं सँभाला जा सकता। अस्तु, साम्राज्य का पतन स्वाभाविक था, अनिवार्य था।

सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् साम्राज्य में कोई केन्द्रीय शक्ति ऐसी न थी, जो इसे संगठित रखती। साम्राज्य अपने अधीन भागों का प्रबन्ध न कर सका! बाहर की बात छोड़ दें, राज्य के भीतर भी एकता न थी। पास में भेद-नीति में कुशल, और फूट डालकर शासन करने वाला रोम था ही। यूनान की भिन्न-भिन्न रियासतों में नित्य झगड़ा होने लगा, प्रत्येक रियासत अपने आपको ऊँचा सिद्ध करने की फिकर में रहती। घर के कलह का निवारण न हो सका। रोम के कम सभ्य विजेताओं को इस साम्राज्य पर विजय पाने में विशेष कठिनाई न हुई। असभ्यता या अर्द्ध-सभ्यता ने सभ्यता को जीत लिया। संसार के इतिहास में यह बात कितनी बार दोहरायी गयी है! रोम का उत्थान, यूनान का पतन सिद्ध हुआ।

बारहवाँ अध्याय

रोम साम्राज्य

योरपीय इतिहास का केन्द्र रोम है, रोम ने वह विशाल साम्राज्य स्थापित किया, जिसमें सब प्राचीन इतिहास की धाराओं की समाप्ति तथा आधुनिक इतिहास की धाराओं का उद्गम है। —*फ्रीमेन*

जब कोई जाति उन्नति के शिखर पर पहुँच कर ऊँच-नीच तथा वर्ण-भेद की निगाह से मानव समुदाय को देखा करती है, तो उसका अधःपतन शुरू हो जाता है। रोम साम्राज्य की सभ्यता इसी दुर्गुण के कारण काल-कवलित हुई। —*सर्वपल्ली राधा कृष्णन्*

रोम साम्राज्य वह साम्राज्य है, जिसका शिष्य समस्त पश्चिमी योरप है। इसी ने इंगलैण्ड के आदिम निवासियों को मकान और सड़कें बनानी सिखायी थी। यह साम्राज्य इतना विशाल था कि इसके खंडहरों पर कई राष्ट्रों का ही नहीं, कुछ साम्राज्यों तक का निर्माण हुआ है। इन साम्राज्यों में से एक इटली का था जो दूसरे योरपीय महायुद्ध (१९३९-४५) तक इस समय के विशाल साम्राज्यों में किसी से कम रहना नहीं चाहता था। यह साम्राज्य रोम साम्राज्य की स्मृति को अपनाए हुए था और अपने गौरव के सुख स्वप्न चरितार्थ करने के लिए आतुर था। सहस्रों वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी जो रोम-साम्राज्य लोगों के मन में ऐसा प्रभाव डालता रहा है, उसी के विषय में यहाँ विचार करना है।

रोम की स्थापना ई० पू० पाँचवीं शताब्दी में हुई। कुछ लोगों का मत है कि यह कार्य ई० पू० आठवीं शताब्दी में हुआ। आरम्भ के रोमन लोग पहाड़ियों पर छोटे-छोटे गाँवों में रहते थे, और खेती-बाड़ी करके अपना निर्वाह किया करते थे। पीछे इनकी बस्तियाँ धीरे-धीरे बढ़ीं और एक शहर बना, जो फैलता गया। कालान्तर में इन्होंने लेटिन संघ बनाकर इटली के उत्तरी भागों को मिलाया। इस समय यूनान तो बहुत उन्नत था ही, उसके अतिरिक्त कार्थेज भी बहुत शक्तिमान तथा धनवान था। यह राज्य उत्तरी अफ्रीका में था यहाँ के निवासी जहाज़ चलाने और व्यापार करने में बहुत कुशल थे। रोम वालों ने जो कुछ सीखा, वह यूनान और कारथेज से ही सीखा। रोम के आदमी उक्त दोनों राज्यों के निवासियों से कम सभ्य थे, और सैनिक शक्ति वाले थे। इन्होंने पहले तो कार्थेज से मिलकर दक्षिण इटली से यूनानियों को निकाला, फिर समय समय पर कई लड़ाइयाँ लड़ कर क्रमशः उक्त दोनों राज्यों को हरा दिया। कारथेज की अंतिम पराजय ई० पू० सन् २०२ में हुई। अब पश्चिमी योरप में रोम का प्रभाव बहुत बढ़ गया। भू-मध्य सागर के पास सब भागों पर, स्पेन तक, रोम का अधिकार हो गया। पीछे यहाँ के सेनापतियों ने गाल (फ्रांस, हालैंड बेलजियम), और ब्रिटेन (इंगलैंड-वेल्ज़) आदि पर भी अधिकार कर लिया। इसके अतिरिक्त, ये एशिया के पश्चिमी भाग, और अफ़रीका में मिश्र आदि उत्तरी भाग को जीतकर इनके भी स्वामी बन गये।

रोम आरम्भ में एक नगर राज्य था, पीछे यह दूर-दूर के अपने अधीन भागों का शासन करने लगा। रोम नगर का शासन एक सिनेट नाम की सभा द्वारा होता था। सिनेट में अधिकतर धनी जमींदारो का प्रभुत्व था, और इसके सदस्यों को दो 'कौंसल' नामजद करते थे। कौंसलों का निर्वाचन होता था, उसके चुनाव में वे लोग मत देते थे, जिन्हें 'नागरिक' माना जाता था, जिन्हें नागरिकता का अधिकार प्राप्त होता था। स्मरण रहे कि नागरिकता का अधिकार रोम के सब निवासियों को नहीं होता था; निर्धन लोग, तथा स्त्रियाँ इससे वंचित थीं। जब रोम राज्य का विस्तार होता गया तो बहुत-से नागरिक रोम से दूर-दूर भी रहने लगे; परन्तु निर्वाचन रोम में ही होने के कारण, बहुधा, बाहर वालों के मताधिकार का उपयोग नहीं हो पाता था।

जब सेनापतियों ने दूर-दूर के भागों में विजय प्राप्त की तो उनका प्रभाव, धन और शक्ति बहुत बढ़ गयी। यहां के अनेक सेनापतियों में ई० पू० पहली सदी में, सीजर सबसे प्रमुख था। परन्तु रोम में लोकतंत्र पद्धति होने से, वह नियमानुसार सर्वोच्च अधिकारी नहीं था। कानून की दृष्टि से, उस पर कई प्रकार के बन्धन थे, उसके अधिकारों की मर्यादा थी। इसे दूर करने के लिए कुछ लोगों ने चाहा कि सीजर का राजतिलक किया जाय उसे मुकुट पहना कर बादशाह बना दिया जाय, जिससे वह कानूनी तौर से सर्वशक्तिमान अधिकारी बन जाय। किन्तु सर्व साधारण की भावना और परम्पराओं में एकदम परिवर्तन नहीं

हुआ करता। सीज़र को बादशाह बनाने वालों की इच्छा पूरी न हुई; उलटा सीज़र को अपने प्राण खो देने पड़े, ई० पू० सन् ४४ में उसका बध कर दिया गया। इस प्रकार लोकतन्त्र की रक्षा करने का प्रयत्न किया गया। परन्तु यह प्रयत्न कुछ स्थायी रूप से सफल न हो सका। सेनापतियों की शक्ति बहुत बढ़ चुकी थी, इस सच्चाई से कोई इनकार नहीं कर सकता था; हाँ, इसे अब तक कानूनी तौर से मान्य नहीं किया गया था। सीज़र के गोद लिये हुये लड़के आक्टेवियन के द्वारा यह कार्य होकर रहा। आक्टेवियन 'प्रिंसेप' अर्थात् मुख्य शासक बना, अब लोकतंत्र समाप्त हो गया। सिनेट बनी तो रही, पर उसे कोई वास्तविक अधिकार न रहा। आक्टेवियन ने अपना नाम 'अगस्टस सीज़र' रखा। उसके उत्तराधिकारी 'सीज़र' कहे जाने लगे। सीज़र का अर्थ हो गया सम्राट्। 'कैसर' शब्द इसी से बना है। अस्तु, विविध देशों पर अधिकार कर लेने पर भी, बहुत समय तक रोम के प्रधान शासक 'सम्राट्' नहीं कहे जाते थे। यह पद यहाँ सर्वप्रथम ई० पू० सन् ३० में मान्य किया गया।

यह साम्राज्य सैनिक साम्राज्य था, इसमें सैनिक बल बढ़ा चढ़ा था। आरम्भ में, नागरिक माने जाने वाले समर्थ व्यक्ति युद्ध में भाग लेते थे। धीरे धीरे साम्राज्य का क्षेत्र बढ़ने के साथ धन सम्पदा बढ़ी, सभ्यता और ऐश्वर्य की वृद्धि हुई। नागरिकों में सुकुमारता बढ़ने लगी इसके परिणाम स्वरूप केन्द्रीय राज्य की जन-संख्या तथा आदमियों का शारीरिक बल घट चला।

विदेशों से किराये के सैनिक लाये जाने लगे। इधर निरन्तर रहने वाले युद्धों ने सेना का महत्व बढ़ा दिया। उसका प्रबन्ध और संचालन साधारण सिविल अधिकारियों के अधीन न रह कर, अलग, उसके सेनापति के अधीन रहने लगा। इस प्रकार सेना-नायकों की शक्ति बहुत बढ़ गयी, और पीछे जाकर ये रोम के राज्यप्रबन्ध में हस्तक्षेप करने योग्य हो गये, और यह इन्होंने किया। दूसरी सदी के अंतिम भाग से लगभग सौ वर्ष तक सैनिक ही सम्राटों का चुनाव करते रहे। निर्वाचन में मत-भेद हो जाने पर भिन्न-भिन्न सेनाओं का परस्पर में संघर्ष भी हो जाता था। अस्तु, अब सम्राट् परामर्श-समिति की परवाह न कर सेना के बल पर शासन करते थे, और स्वभावतः उसे वेतन, पुरष्कार और अधिकारों से प्रसन्न रखने का भरसक प्रयत्न करते थे।

तीसरी सदी के अंतिम भाग में रोमन सम्राट् डायोक्लिशियन के सामने दो मुख्य समस्याएँ थीं—सैनिकों को सम्राटों के बनाने, तथा पदच्युत करने का अधिकार न रहे; और सीमा-प्रान्तों की, विविध आक्रमणकारी शत्रुओं से रक्षा की जाय। इन्हें हल करने के उद्देश्य से साम्राज्य चार भिन्न भिन्न भागों में विभक्त किया जाकर, प्रत्येक भाग पृथक्-पृथक् शासक अधीन किया गया। दो शासक 'अगस्टस' उपाधिधारी सम्राट् हुये, और दो 'सीज़र' उनके सहायक रहे। इसमें यह लक्ष्य रखा गया कि साम्राज्य की चारों ओर से रक्षा होगी, और सेना इन चार शासकों को वैसी सुगमता से न हटा सकेगी, जैसे

कि एक को हटा देती थी। कुछ समय तक इस परिवर्तन से सफलता ही मिली। इसका एक परिणाम यह भी हुआ कि रोम का अब पहले जैसा महत्त्व और गौरव न रहा; अब शासक सुविधानुसार रोम से बाहर रहने लगे; और हाँ ये केवल मुख्य न्यायाधीश या सेनापति न रह कर वैभव-पूर्ण सम्राटों का जीवन बिताने लगे।

साम्राज्य के चार शासकों की बात विशेष समय तक न चल सकी, कारण, उनमें परस्पर मेल न रह कर, युद्ध होने लगा। आखिर सन् ३२३ ई० में, कौन्स्टेंटाइन सब पर विजय पाकर एक-मात्र शासक रह गया। इस सम्राट् ने ईसाई धर्म स्वीकार करके इसे राजधर्म घोषित किया, तथा थ्रेस में साम्राज्य की नयी राजधानी बनायी, जो उसके नाम पर कुस्तुनतुनिया (कौन्स्टैंटीनोपल) कहलायी। यहां जो परामर्श-समिति बनी उसमें यूनान और एशिया के सदस्यों की संख्या अधिक थी और ये सम्राट् की इच्छानुसार शासन-कार्य होने में कोई बाधा उपस्थित न करते थे। कुछ लोगों का मत है कि साम्राज्य की राजधानी का यह परिवर्तन, उसके पतन का कारण था; परन्तु इतिहास लेखक गिबन का मत है, इस घटना से राज्य की शक्ति केवल विभक्त हुई, न कि वह किसी और के पास गयी, नयी राजधानी की स्थापना से, पश्चिमी साम्राज्य के विनाश की अपेक्षा, पूर्वीय साम्राज्य की स्थिरता बढ़ी।

धीरे-धीरे विदेशी जतियों ने लगभग डेढ़ सौ वर्ष के पयत्न के बाद, साम्राज्य में घुसना आरम्भ कर दिया। वे अब तक

आक्रमण करते रहे थे, जिनमें सफल होने पर उन्हें लूट-मार का धन मिलता था। इसके अतिरिक्त, वे साम्राज्य के सम्पर्क में आने से कुछ-कुछ रोमन सभ्यता भी सीख रहे थे। 'गाथ' (जर्मन) लोगों को पिछले आक्रमणों के फल स्वरूप रोम की ओर से डेसिया नामक एक प्रान्त मिल गया था। वे रोमन आचार व्यवहार विशेष रूप से ग्रहण कर चुके थे। चौथी शताब्दी में जब कि इन पर एशिया से आने वाले हूण लोगों के आक्रमण हुए, तो ये रोम राज्य का आश्रय लेने के लिये बाध्य हुए, और कुछ काल पीछे उसके स्वामी ही बन बैठे। पीछे सम्राट् थियोडोसियस ने उनका प्रभुत्व हटाकर समस्त साम्राज्य पर शासन किया। इस प्रकार पूर्वी और पश्चिमी साम्राज्य का भेद कुछ काल के लिए, दूर हो गया। पर साम्राज्य क्रमशः निर्बल होकर, विजातियों के अधिकार में जाता रहा। सन् ३९५ ई० में रोम साम्राज्य फिर पूर्वी और पश्चिमी भागों में विभक्त किया गया। जिस थियोडोसियस ने साम्राज्य को एक किया था, उसी ने इसे अपने दो लड़कों में से एक को पूर्वी भाग का, और दूसरे को पश्चिमी भाग का, शासक बना कर पूर्वी साम्राज्य और पश्चिमी साम्राज्य के भेद को भविष्य के लिए दृढ़ कर दिया।

पाँचवीं शताब्दी के आरम्भ में हूण लोगों ने गाथों तथा रोमनों पर आक्रमण किया। अन्य विदेशीय जातियों ने साम्राज्य के भिन्न-भिन्न भागों में, अधिकार प्राप्त करके, बसना आरम्भ कर दिया। गाथ (जर्मन) सेनाओं ने इटली पर अधिकार कर

लिया। इन आक्रमणकारियों को सर्दी-गर्मी सहने का अभ्यास था, ये निर्धन थे और सादा तथा कठोर जीवन बिताने वाले थे। इन्हें रोम वालों की तरह सुकुमारता, विलासिता और हाँ 'सभ्यता' का रोग नहीं लगा था। ये निरोग थे; बलवान थे। अस्तु, सन् ४७६ ई० में रोमन सम्राट् ने अपना पद त्याग दिया। इस प्रकार (पश्चिमी) रोम साम्राज्य एक गाथ (जर्मन) सेनापति के अधीन हो गया। यद्यपि वह सेनापति कहने को पूर्वीय सम्राट् का प्रतिनिधि मान लिया गया, इस समय से रोम साम्राज्य का (जहाँ तक उसका पश्चिमी भाग से सम्बन्ध था) पतन हो गया।

अस्तु, पूर्वी रोम साम्राज्य में अभी दम बाकी था। वास्तव में यह रोम-साम्राज्य न था, इसकी भाषा लेटिन न होकर यूनानी थी। इसका पश्चिमी योरप से विशेष सम्पर्क न था। इस साम्राज्य के अधिकतर निवासी यूनानी होने, अथवा यूनानियों के सम्पर्क में रहने, के कारण यथेष्ट सभ्य थे। इस साम्राज्य ने रोम साम्राज्य के पूर्वीय देशों में एकता बनाये रखने में महत्व-पूर्ण कार्य किया। इस साम्राज्य पर विजातियों के आक्रमण कम होने के कारण, इसकी एकता तथा दृढ़ता कई सदियों तक बनी रही। पीछे, आक्रमण अधिक होने लगे। शक्ति क्षीण हो रही थी। यहाँ के विशाल नगरों में यह दशा थी कि एक ओर उसके साथ रहने वाली विलासिता का राज्य था; और दूसरी ओर था मज़दूरों और गुलामों का अपरिमित कष्ट। साम्राज्य, ये दोनों भार कैसे और कब तक सहन करता! अस्तु, अरब की

स्वतन्त्रता, सादगी और कष्टसहिष्णुता के वातावरण में पैदा हुए इसलाम धर्म के जोशीले अनुयाइयों ने संसार के अन्य अनेक भागों की भाँति यहाँ भी अपनी विजय-यात्रा के लिये खुला मार्ग पाया। सन् १९५३ ई० में तुर्कों ने आक्रमण करके कुस्तुनतुनिया पर अधिकार कर लिया। पूर्वीय रोम-साम्राज्य की राजधानी ने अब अपने नये स्वामी का स्वागत किया। रोम सम्राट उसकी रक्षा करने में असमर्थ प्रमाणित हुए, तो वह शक्तिशाली तुर्क विजेताओं की राजधानी बन गयी। इस प्रकार पूर्वीय रोम-साम्राज्य का भी पतन हो गया।

रोम साम्राज्य अब केवल इतिहास का विषय है। पहले कहा जा चुका है कि रोम वर्तमान योरपीय सभ्यता का स्रोत माना जाता है; यह योरप का आदि गुरू है। इसलिए योरपीय इतिहासकारों ने रोम को पाठकों के सामने अच्छे-से-अच्छे रूप में उपस्थित किया है। वे इसकी प्रशंसा के गाते हुए नहीं थकते। उन्होंने इसके दोषों पर पर्दा डालने की भरसक चेष्टा की है। उनका यह दावा है कि रोम अपने समय में कायदे-कानून, नीति सुव्यवस्था, और सभ्यता का केन्द्र था, उसके ये गुण चिरस्मरणीय है। उसकी विजय-पताका जहाँ कहीं पहुँची, उसके संसर्ग में जो कोई आया, उसे ये अनुपम वस्तुएँ उपहार में मिली।' हम इसका समर्थन करने में असमर्थ है, और हमारा विचार है कि पक्षपात छोड़कर विचार करने वाले सभी व्यक्ति हमारे साथ सहमत होंगे। रोम का व्यापार विशेषतया गुलामों का व्यापार

था, उसकी नीति भेद-नीति, फूट डाल कर शासन करना (बंदर बाँट) थी, उसकी सुव्यवस्था का आधार सैनिक-व्यवहार, दमन और हिंसा थी। इन बातों का विशेष विचार आगे किया जायगा। हमारा यह कथन नहीं है कि रोम साम्राज्य सर्वथा दुर्गुणों की ही खान था। कुछ विशेष गुणों के बिना तो साम्राज्य जैसी संस्था का निर्माण ही नहीं हो पाता। हमारा वक्तव्य केवल यह है कि हम उसे उस श्रद्धा का अधिकारी नहीं मानते जो उसे अधिकाँश योरपीय इतिहास-लेखक प्रदान करते है।

अस्तु, अब हम इस साम्राज्य के पतन पर विचार करें।

जाहिरा तौर पर यही मालूम होता है कि इस साम्राज्य का पश्चिमी भाग बर्बर (जंगली) जातियों के, तथा पूर्वी भाग तुर्कों के, आक्रमण से विध्वंस हुआ। और इसमें सन्देह भी नहीं कि प्रत्यक्ष या अन्तिम कारण बहुत-कुछ यही है। किन्तु क्या यह प्रश्न उपस्थित नहीं होता कि सीज़र जैसे विजेताओं को पैदा करनेवाली जाति इन आक्रमणकारियों से क्यों हार गयी। आवश्यकता है कि हम इस विषय पर गम्भीरता से विचार करें।

साम्राज्य के ह्रास का एक मुख्य कारण भेद-भाव था। पहले जाति-भेद की बात लीजिये। रोम वाले अति प्राचीन काल से दो दलों में विभक्त थे—पेट्रिशियन और प्लेबियन। 'पेट्रिशियन' उन लोगों को कहा जाता था, जो रोम में पहले आकर बसे थे, इनके पास अपनी भूमि थी और ये अपने को प्लेबियन (सर्व साधारण) लोगों से श्रेष्ठ समझते थे, जो रोम में पीछे व्यापार

के कारण अथवा युद्ध में कैदी होकर आये। सुदीर्घ काल तक, प्रजातन्त्र की स्थापना हो जाने पर भी, राजकार्य में पेट्रिशियनों का ही आधिपत्य रहा। बड़े संघर्ष और आन्दोलन के बाद प्लेबियनों को कुछ राजनैतिक अधिकार दिया गया।

कुछ समय बाद इस भेद-भाव ने नया स्वरूप ग्रहण किया। रोम की साम्राज्य-लिप्सा धीरे बढ़ने लगी। उसने अन्य भागों को विजय करना आरम्भ किया। विजित देश में कुछ रोम वाले बस जाते और वहाँ कुछ भूमि पर अधिकार कर, उसे रोम का उपनिवेश बना लेते। इन विजित भू-भागों से रोम में असंख्य धन और सहस्रों गुलाम आने लगे। रोम निवासी अब विलासिता और ऐश्वर्य का जीवन बिताने लगे, उन्होंने कष्ट सहना और परिश्रम करना छोड़ दिया। राज्य में धनवानों की प्रभुता हो गयी, ये अपने धन और भूमि को बढ़ाने के व्यापार व्यवसाय करने लगे। अन्नादि खाद्य पदार्थ विजित देशों से आने लगा। बस, गरीब किसानों को साम्राज्य वृद्धि के लिए युद्धों में जाकर अपने प्राण गंवाने या धनवानों की नौकरी में रहने का काम रह गया। इस प्रकार दासों के अतिरिक्त, रोम में धनवानों और निर्धनों के दो स्पष्ट भेद हो गये।

धनवान आदमी थोड़े-से थे, उन्हें भोग विलास के सब साधन प्राप्त थे। उनके रहने के विशाल भवन थे, उनमें सोने बैठने मनोरंजन आदि के लिये अलग-अलग कमरे थे। बहुधा एक-एक आदमी के पास कई-कई मकान भिन्न-भिन्न रुचि और ऋतुओं के अनुकूल थे; कोई पहाड़ी पर कोई नदी के किनारे

कोई समुद्र तट पर। मकानों को आवश्यकतानुसार गरमी पहुँ-चाने का प्रबन्ध था। ठंडे और गर्म जल के स्नानागार जो संगमरमर के बने होते थे। बैठने और सोने के कमरे फूलों, तेल तथा इतर से सुगंधित रहते थे। उनके भोजन के लिये समय-समय पर षट्रस भोजन तैयार थे, उनके घूमने-फिरने के लिए बहुमूल्य सवारियों का प्रबन्ध रहता था। इसके विपरीत, अनेक निर्धन किसानों के पास—जिनकी राज्य में बहुत बड़ी संख्या थी—अपनी कुछ भी ज़मीन नहीं थी, घर-बार नहीं था, दो समय पेट भरने को रूखा-सूखा भोजन नहीं था। हज़रत ईसा के अनुयाइयों ने इस, ग़रीबों का रक्त चूसने वाली, सभ्यता का विरोध किया। कुछ अन्य विचारशील सुधारकों ने किसानों को उनके निर्वाह-योग्य भूमि दी जाने के लिये प्रयत्न किया। इनकी युक्तियां अकाट्य थीं, पर बहुत समय तक इन्हें दूसरों की केवल मौखिक सहानुभूति मिली; धनवानों का कठोर हृदय जल्दी पसीजने वाला न था। उनकी पीठ पर शासकों का हाथ था, और वे स्वयं भी कानून बनाने वाले थे। साम्राज्य के गरीबों और अमीरों के बीच की खाई न पट सकी। प्राय: सभी साम्राज्यों के लिए यह खाई न पट सकी। प्राय: सभी साम्राज्यों के लिए यह खाई अलंघ्य होती है!

रोम साम्राज्य के क्षय होने में गुलामी (दास प्रथा) का भी बड़ा भाग है। बात यह है कि रोम के सामाजिक जीवन का आधार ही यह प्रथा थी। यहां के सेनानायक विजित देशों से सहस्रों आदमियों, स्त्रियों बच्चों को बन्दी बनाकर लाया करते थे

इनमें से कुछ सरकारी कार्यों के लिए रखे जाकर शेष. भेड़-बकरियों की तरह खास-खास बाजारों में बेचे जाते थे, और गुलाम का जीवन बिताते थे। जो व्यक्ति किसी का ऋण नहीं चुका सकता था, वह अपने महाजन का गुलाम हो जाता था। स्वतंत्र नागरिकों को अपनी सन्तान बेचने का अधिकार था; बिकी हुई संतान मोल लेने वालों की गुलाम होती थी। निदान गुलाम कई प्रकार के होते थे। कुछ दास अपने धनी मालिकों के घरों में उन्हें नहलाने धुलाने आदि की सेवा करते थे, अथवा, अशिक्षित होने की दशा में—जैसे कि यूनान से आये हुये गुलाम होते थे—अपने मालिक या उनके बालकों को पढ़ाते भी थे।

जो आदमी सौभाग्य से किसी अच्छे आदमी का गुलाम होता था, उसका जीवन सुख से कट जाता था, उससे परिवार के सदस्यों की भाँति व्यवहार होता था। पर यह मालिक की प्रकृति पर निर्भर था, अन्यथा कानून की दृष्टि से मालिक को उस पर पूरा अधिकार था वह चाहे तो उसे मारे-पीटे भूखा रखे अपने घर के भीतर कैद कर दे, प्राण तक अपहरण कर ले। मालिक के विरुद्ध कोई शिकायत नहीं हो सकती थीं। कानून द्वारा इस प्रकार अरक्षित रहने का विशेष कटु अनुभव उन अधिकाँश दासों को करना पड़ता था। जो खेती आदि के परि-श्रम-साध्य कार्य करने के लिए मोल लिये जाते थे। इन अभागों के कष्टों का कुछ अन्त न था। इनके काम की देख भाल के लिए जमींदार या साहूकार लोग कुछ कारिन्दे रखते थे। ये कारिन्दे दासों के साथ अत्यन्त निष्ठुरता का व्यवहार करते थे, बात-

बात में कोड़े मारना साधारण बात थी। गुलाम कहीं भाग न जायँ, इस विचार से उन पर गरम लोहे से विशेष चिन्ह दाग दिया जाता था, और काम करते समय उन्हें जंजीरों से बाँध कर रखा जाता था। फिर भी, कुछ दास अवसर पाकर भाग निकलते थे। ये जब पकड़े जाते थे तो इन्हें जंगली जानवरों से कटवाया जाता था, या अन्य प्रकार से प्राणदण्ड दिया जाता था। स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट दिखलायी देने वाले कुछ दासों को दूसरे प्रकार की यातनाएँ भोगनी पड़ती थीं। इन्हें धनवान अपने मनोरंजन के लिए रखते थे। इन्हें पटेबाजी की शिक्षा दी जाती थी, और सार्वजनिक उत्सवों या खेल तमाशों के अवसर पर ये आपस में तलवार भाले आदि घातक अस्त्रों से लड़ते थे। अपने प्रतिद्विन्द्वी को केवल जख्मी करने वाला नहीं, जान से मार डालने वाला दास विजयी समझा जाता था। कभी-कभी निहत्थे दास का, शेर चीते आदि भयानक जंगली जानवर से भी द्वन्द्व युद्ध कराया जाता था।

प्रतिद्वन्द्वी के अस्त्रों से, अथवा जंगली जानवर के दाँतों और पंजों आदि से, बार-बार जख्मी होने पर भी दास से यह आशा की जाती थी कि वह गम्भीरता का प्रदर्शन करे, उसके मुँह से आह तक न निकले! आँसू बहाने या चिल्लाने की तो बात ही क्या! अस्तु, ये क्रूरताएँ करायी जाती थीं, धनवानों अमीरों तथा अन्य दर्शकों के मनोरंजन के लिए! ऐसे खेल-तमाशे रोम के शासकों की ओर से भी कराये जाते थे, विशेषतया जब कोई सेनाध्यक्ष किसी प्रदेश को जीत कर रोम की राजधानी में प्रवेश

करता था ! आह कैसी सभ्य, शिक्षित और धर्म-भीरू थी, वह रोमन जनता, जिसके मनोविनोद के लिये ऐसा हत्याकाँड कराना अनिवार्य समझा जाता था ! और जब राज्य के नागरिक, स्त्रियों को भी दास बना कर रखते हों तो उनको सदाचार और गार्हस्थ जीवन कब पवित्र रह सकता है !

धीरे-धीरे समय ने पलटा खाया। अनेक दासों को इस निष्ठुर व्यवहार के प्रति असंतोष होने पर वे संगठित रूप से इस प्रथा का विरोध करने लगे और इसके समर्थकों के विरुद्ध खड़े होने, लगे। आरम्भ में बहुत समय तक उन्हें सफलता न मिली, पर इसका प्रभाव सामाजिक स्थित पर पड़ा ही। दासों की दशा में क्रमशः सुधार होने लगा। कुछ दार्शनिकों ने भी दासों के प्रति होने वाले व्यवहार की निन्दा की, और जनता में उनके प्रति सहानुभूति के भाव पैदा किये। विविध सुधारकों के प्रयत्नों के फल स्वरूप उनकी दशा में क्रमशः सुधार हुआ। कुछ दासों को कुछ समय के लिए मताधिकार भी प्राप्त हुआ। पर उन्हें शासन सम्बन्धी पद तो दिये ही नहीं गये। सेना में भरती होने के अधिकार से भी वे सहस्रों वर्ष वंचित रहे। हां जब रोम वाले विलासी एवं निर्बल हो गये तो राज्य को दासों के लिए सेना में भर्ती होने का मार्ग क्रमशः प्रशस्त करना पड़ा। परन्तु यह तो मजबूरी की बात थी, इसमें हृदय की उदारता न थी !

ईसाई धर्म के प्रचार ने, और उसके इस उपदेश ने भी कि 'ईश्वर की दृष्टि में सब मनुष्य समान हैं' दासों की दशा सुधारने

में सहायता दी। अपनी तत्कालीन परिस्थिति का विचार करके ईसाई संस्थाएँ इस बात का प्रचार करने का साहस नहीं कर सकती थीं कि दासों को राजनैतिक अधिकार अन्य नागरिकों के समान मिलने चाहिएँ इसके अतिरिक्त, जब रोम साम्राज्य का विस्तार काफी हो गया, तथा और विजय होनी प्रायः बन्द हो गयी तो विदेशों से युद्ध के बन्दी होकर आने वाले दासों में भी कमी हो जाना स्वाभाविक था। अब दास महँगे हो गये, और इससे मालिकों का उनके प्रति मनमाना अत्याचार न रहा।

पर इस समय एक दूसरी बात पैदा हो गयी। बाहर से अन्न आदि की आयात कम होने तथा अन्य कारणों से रोम में कृषि व्यवसाय आदि की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। कृषि कार्य अधिकतर दासों के ही हिस्से में आया। जो निर्धन लोग लगान देकर जमींदारों से जमीन लेते थ, उन्हें भी भू-स्वामी की अधीनता में रहना पड़ता था। ये उसके खेतों में बेगार आदि करते थे; इन्हें कोई नागरिक अधिकार न होता था। विवाह-शादी आदि सामाजिक कार्यों में भी ये पूर्ण-स्वतंत्र न थे। इस प्रकार युद्ध में बन्दी बनाकर लाये हुये तथा अन्य प्रकार बने हुये दासों की जगह अब किसान दास होने लगे। अस्तु, रूपान्तर हो जाने पर भी रोम-साम्राज्य में दासता तो रही ही।

दासता का परिणाम नागरिकों पर कैसा पड़ा, इसकी कल्पना की जा सकता है। प्रत्येक परिवार में दासों की संख्या

आवश्यकता से कहीं अधिक थी। प्रत्येक नागरिक के पास दो-दो तीन-तीन तथा इस से भी अधिक दास होने की दशा में, नागरिकों को कुछ काम-काज करने की जरूरत ही नहीं रहती थी; वे निर्बल, सुकुमार और निस्तेज हो तो क्या आश्चर्य! साम्राज्य-संचालन के लिए ऐसे व्यक्ति नितान्त अयोग्य होते हैं, रोमन भी अयोग्य प्रमाणित हुए। उनकी सैनिक शक्ति क्षीण होने की बात पहले कही जा चुकी है। सैनिकों के वेतनादि देने तथा सम्राटों और अन्य पदाधिकारियों के ठाठ-बाट का खर्च चलाने के लिये प्रजा पर नाना प्रकार के करों का भार लादा गया। ये कर बहुत सख्ती से वसूल किये जाते थे, और इनका अधिकतर भार भी धनी और प्रतिष्ठित लोगों पर न पड़कर सर्वसाधारण निर्धन जनता पर पड़ता था। उनके कष्ट बढ़ने लगे। असंतोष की भावना जागृत हुई। साम्राज्य का वास्तविक और स्थायी बल जनता का सन्तोष और भक्ति होती है; उसके अभाव अथवा न्यूनता ने अब साम्राज्य को निर्बल करने में सहायता दी।

ईसाई धर्म साम्राज्य का राज-धर्म घोषित होने की बात पहले कही गयी है। इस धर्म का साम्राज्य पर क्या प्रभाय पड़ा? विशेषतया सैनिक साम्राज्यों के निर्माण तथा उनकी स्थिरता और वृद्धि के लिए युद्ध और नर-संहार आवश्यक होता है, यह कार्य एक प्रकार से धार्मिक मनोवृत्ति के विरुद्ध है, दूसरे शब्दों में धर्म सैनिक साम्राज्यों के पतन में सहायक होता है। सुप्रसिद्ध इतिहास-लेखक गिबन रोम-साम्राज्य के पतन के विषय में विचार

करता हुआ कहता है कि 'ईसाई मत के प्रचार का, या कम से कम इसके दुरुपयोग का, भी कुछ प्रभाव पड़ा। पादरी लोग संतोष और भीरुता के सिद्धान्त का उपदेश करते थे, और साहस इत्यादि गुणों के प्रति लोगों को निरुत्साहित करते थे। सैनिक भावना का बचा-खुचा अंश गिरजाघरों के अर्पित हो गया, तथा व्यक्तिगत और सार्वजनिक सम्पत्ति का बड़ा भाग दान-धर्म में लगा धर्म के साथ, राज्य में मतभेद बढ़ चले। और, सम्राटों का ध्यान सेना की ओर से हटकर गिरजाघरों की ओर चला गया; रोमन संसार नये अत्याचारों का शिकार हुआ, और पीड़ित-वर्ग के आदमी देश के गुप्त शत्रु बन गये।"

अब थोड़ा विचार रोमन कानून और शासन-पद्धति का किया जाय; ये पाश्चात्य राष्ट्रों में बहुत मान्य है, अनेक राज्यों ने इनके आदर्श पर अपने यहाँ की व्यवस्था की है; हाँ, पीछे परिस्थिति और आवश्यकतानुसार उनमें परिवर्तन होता रहा है। रोम वालों ने ईसा पूर्व पांचवीं शताब्दी में अपने राज्यों के लिए बारह कायदों का विधान बनाया, यह प्रसिद्ध है। इन कायदों की ऐसी बातें आजकल अच्छी नहीं मानी जाती कि "पिता का अपने पुत्र पर पूर्ण अधिकार है, वह उसे स्वेच्छानुसार बेच सकता है तथा प्राण दंड दे सकता है" तथापि उस प्राचीन काल में रोम ने लिखित नियम बनाये, यह बात योरप में उसे गुरू-पद प्रदान करती है। रोम वालों ने अपने विजित देशों के लिए 'जस जेन्शियम नामक कायदे बनवाये। इनमें उन्होंने उनके आदमियों को रोमन नागरिकों जैसे अधिकार न दिये, और इस

प्रकार भेद-भाव रखा हाँ, इससे रोमन शासकों को वहाँ स्वेच्छाचार करने का अवसर कम रहा। किन्तु इससे यह न समझना चाहिये रोम की प्रान्तीय शासन-पद्धति में कोई दोष न था। रोम साम्राज्य का एक-एक भाग (प्रान्त) एक-एक गवर्नर के अधीन होता था, जो साम्राज्य को निर्धारित वार्षिक लगान देना स्वीकार कर लेता था। फिर गवर्नर अपने प्रान्त से यथेष्ट आय वसूल कर सकता था, और उसका कुछ भाग वहाँ खर्च करके शेष से अपने आपको खूब धनवान बना सकता था। लोभी आदमी रोम को अधिक धन देने की प्रतिज्ञा कर, प्रान्तों की गवर्नरी का ठेका प्राप्त कर लेते थे, और ये जब अपने शासन-काल के बाद रोम वापिस आते थे तो बहुधा अपने धन शक्ति का दुरुपयोग करके रोम के शासन को बिगाड़ने में भाग लेते थे।

रोम वालों की साम्राज्य-शासन व्यवस्था का आधार भेद-नीति थी, जैसा कि प्रायः प्रत्येक कुशल विजेता की होती है। रोम विजित जातियों को परस्पर में सम्बन्ध रखने और इस प्रकार उन्हें अपनी शक्ति बढ़ाने की अनुमति नहीं देता था। प्रत्येक जाति पृथक्-पृथक् रोम के अधीन होती थी, प्रायः उनके आदमियों को हथियार रखने का अधिकार नहीं दिया जाता था। हरेक विजित देश में रोम वालों की, छावनी या उपनिवेश रहता था, जिससे वहाँ के आदमियों का नियन्त्रण करने तथा उन पर अपने आचार व्यवहार का प्रभाव डालने में सुविधा हो। रोम वाले प्रत्येक विजित देश में बड़ी बड़ी सड़कें बनवाते थे,

इससे लोगों को आमदरफ़्त और व्यापार आदि की सुविधा होती, पर इसमें साम्राज्य की दृष्टि से यह लाभ था कि युद्ध का प्रसङ्ग आने पर सेना आसानी से और जल्दी ही आ-जा सके इस प्रकार रोम ने उन्हें निर्बल और आत्म-रक्षा के साधनों से वंचित करके रखा। साम्राज्य का प्रत्येक भाग अपनी रक्षा के लिए रोमन सेनाओं के आश्रित था।

रोम को आशंका थी कि यदि विजित प्रदेश को हथियार रखने और अपनी राष्ट्रीय सेना संगठित करने दिया जायगा, तो न-मालूम वह कब हाथ से निकल जाय। परन्तु रोम वालों ने कभी यह न सोचा—और, अपने अहंकार-मद में ऐसी बात सोचता ही कौन है—कि कभी हम पर ही संकट आगया तो ये प्रान्त जो स्वयं निर्बल और परावलम्बी हैं, हमारी सहायता कैसे कर सकेंगे। रोम ने इन प्रान्तों को क़ायदे-कानून के शिकंजे में कसकर विकसित होने का अवसर ही नहीं दिया था, अपना जोर बनाये रखने के लिए उसने इनका भरसक दमन किया था। आखिर, परीक्षा का समय आया, विजातियों ने इन पर तथा रोम पर आक्रमण किया। रोम उस समय अपनी ही चिन्ता में निमग्न रखने के कारण इन प्रान्तों की क्या रक्षा कर सकता था। बस, साम्राज्य का एक-एक अंग दूसरों के अधिकार में जाता रहा, और स्वयं साम्राज्य का हृदय (रोम) ही दूसरों के के अधीन हो गया। सब साम्राज्य खंड-खंड होकर नष्ट हो गया।

वास्तव में अन्य देशों की विजय ने रोम वालों को बड़ा

मदोन्मत्त कर दिया था। जब कभी कोई सेना-नायक कोई बड़ी विजय करके रोम लौटता तो उसके उपलक्ष्य में बड़े बड़े उत्सव या जल्से होते, और पराजित नेता को बड़े अपमान-पूर्वक नगर में से निकाला जाता; कभी कभी उसे विजेता के रथ के पीछे बाँध दिया जाता; अथवा उसे, उसके बाल बच्चों सहित, पैदल चलाया जाता; सर्वसाधारण उसे देख कर उसकी हँसी उड़ाते और तरह तरह से उसकी दुर्गति करते। ये बातें इस बात का प्रमाण है कि रोम वाले अपने विपक्षियों की वीरता, स्वतन्त्रता आदि गुणों का आदर करना भूल गये थे। उनके, शत्रुओं से किये जाने वाले व्यवहार से, उनकी अनुदारता और क्षुद्र-हृदयता ही सूचित होती थी। रोमन जाति अहंकार और दमन की पालक पोषक बन गयी। सम्राटों का रोम अधिकार-लिप्सा, सत्तावाद और निरंकुशता द्वारा कुचला गया। अपने विविध नैतिक दुर्गुणों से साम्राज्य ने दूसरों का गला घोटते-घोटते अंत में स्वयं अपनी ऐहिक लीला पूरी कर दी।

तेरहवाँ अध्याय

सेरेसन और तुर्क साम्राज्य

इतिहास के इस युग में सब से ज्यादह उल्लेखनीय चीज यह दिखाई देती है कि अरब के मुसलमान बड़े सहनशील होते थे, और योरप के ईसाई बेहद असहनशील।.........धन और साम्राज्य की वजह से अरबों में विलासिता, खेल-कूद, और ऐशोअशरत के तौर तरीकों का जन्म हुआ।

—जवाहरलाल नेहरू

'जो चढ़ा है, वह गिरेगा; जो गिरा है, वह चढ़ेगा' यह कहावत तुर्की साम्राज्य के सम्बन्ध में जितनी चरितार्थ होती है, और किसी साम्राज्य के सम्बन्ध में भी चरितार्थ होती हो, इसमें सन्देह है।

—रुद्रनारायण अग्रवाल

अरब वालों ने अब से तीन हजार वर्ष पहले भी अच्छी सभ्यता प्राप्त कर ली थी; परन्तु पीछे इन्होंने समय के बहुत उतार चढ़ाव देखे। आखिर, ईसा की सातवीं सदी तथा उसके बाद में इन्होंने ऐसे महान साम्राज्य की स्थापना की जिसके अन्तर्गत एशिया योरप और अफरीका महाद्वीपों की बड़ी-बड़ी और उन्नत जातियाँ थीं। मुसल्मिम खलीफाओं के शासन-काल में कारडोवा (स्पेन) बगदाद (ईरान), और दमश्क

(शाम) संसार की भव्य राजधानियों में थे। इस साम्राज्य के समय की विकसित सभ्यता में कितनी ही बातें आधुनिक योरप के विज्ञान और तत्वज्ञान की नींव डालने वाली थीं।

अरब का उत्तर और मध्य भाग अफ्रीका के सहरा का, और दक्षिण भाग (यमन) सूडान का सिलसिला कहा जा सकता है। आब-हवा गर्म और शुष्क है, नदियों और झीलों का अभाव है। तथापि अरब की सारी भूमि वीरान नहीं है; विशेषतया किनारों पर पश्चिम, दक्षिण और दक्षिण-पूर्व में भूमि उपजाऊ भी है। यमन में प्राचीन काल में अच्छी जन उपजाऊ संख्या रही है, और यहाँ मौसमी हवाओं से वर्षा होने के कारण, यह अन्य भागों की अपेक्षा अधिक है।

अरब निवासी अति प्राचीन काल से स्वाधीनता-प्रेमी रहे हैं। कठोर भूमि पर सोने, मरुभूमि की गर्मी सहने, कई-कई दिन तक अत्यल्प भोजन और विश्राम करने के अभ्यस्त होने, के कारण उनका स्वास्थ्य और शक्ति अच्छी रहती है। यह जाति स्वाधीन और स्वावलम्बी रही है। सिकन्दर के आगमन के समय जबकि कितनी ही जातियों ने उसके आक्रमणों से बचने के लिए उसके प्रति सहज ही आत्म-समर्पण कर दिया था, अरब वालों ने उसको कुछ महत्त्व ही नहीं दिया; ये स्वाभिमान-पूर्वक अलग खड़े रहे।

अरब लोग 'काबे' को बहुत मानते थे। मक्के के इस पुराने मंदिर में एक काला पत्थर रखा हुआ है, यह बहुत पवित्र समझा जाता था। इसके, तथा अन्य मूर्तियों के दर्शन के लिए दूर दूर

से अरब वाले मक्का की यात्रा किया करते थे। यहाँ नाना प्रकार की बहुमूल्य भेंट चढ़ायी जाती थी, और इसलिए प्रधान जातियों में इस पर अधिकार जमाने के सम्बन्ध में प्रतिद्वन्द्विता होती थी। पांचवीं शताब्दी के आरम्भ में कुरेश जाति के सरदारों ने इस मन्दिर पर स्थायी अधिकार कर लिया। ये लोग व्यापार आदि से भी बहुत धनवान हो गये। इनकी समाज में बड़ी प्रतिष्ठा हो गयी। सन् ५६- ई० में, कुरेश वंश में, और मक्का नगर में ही, मुहम्मद साहब का जन्म हुआ।

उस समय अरब की जातियों में बहुत कलह और फूट थी, वे आपस में लड़ते-झगड़ते थे, और बहुत-सी सामाजिक कुरीतियों के शिकार थे। उनमें अज्ञान का बड़ा अन्धकार छाया हुआ था। मोहम्मद साहब का मत स्वीकार करने पर उनमें अद्भुत् एकता और उत्साह का संचार हो गया। जब मोहम्मद साहब की आयु चालीस वर्ष की थी, तो स्वप्न में ऐसा प्रतीत हुआ कि देवदूतों ने इन्हें धर्म प्रचार के लिए आज्ञा दी है। इन्होंने बड़ा साहस करके तथा चारों तरफ की कठिनाइयां सह-कर इसलाम धर्म का प्रचार, मूर्ति-पूजा का खंडन तथा कई सामाजिक कुरीतियों का निवारण किया। धीरे धीरे इनका विरोध होने लगा, और विरोधियों की ज्यादतियाँ बढ़ती गयीं। आखिर ६२२ ई० में इन्हें मक्का से भाग कर मदीना जाना पड़ा। इसी घटना के समय से मुसलमानों का 'हिजरी' संवत् आरम्भ होता है। 'हिजरत' का अर्थ एक स्थान से दूसरे स्थान जाना है। मदीना ने मुहम्मद साहब का स्वागत किया। अब

मक्का और मदीना में युद्ध छिड़ गया, जो छः वर्ष तक रहा। अन्त में मुहम्मद साहब के पक्ष की विजय हुई, और ये विजयी होकर मक्का आये। सन् ६६२ ई० में आपका देहान्त हुआ, उस समय तक अरब के सरदार आपके भक्त और अनुयायी हो गये थे।

अरब के आदमी सेरेसन भी कहे जाते थे। 'सेरेसन' का का अर्थ है, 'रेगिस्तान का आदमी।' सेरेसनों ने इसलाम धर्म ग्रहण करने के बाद इस धर्म को चारों दिशाओं में फैलाना अपना कर्तव्य समझा। उस समय की दृष्टि से इसलाम में जो उदारता और श्रेष्ठता थी, उससे इसके प्रचार में बड़ी सहायता मिली। इसलाम से अरब में एकता स्थापित हो गयी, और यह संसार के सामने एक नयी शक्ति के रूप में उपस्थित हुआ। अरब वालों में नये जीवन और अपूर्व साहस का संचार हो गया। वे एक विशाल साम्राज्य के संस्थापक बन गये।

जब अरब ने राजनैतिक और सामाजिक एकता प्राप्त कर ली, तो मुहम्मद साहब तथा उनके अनुयाइयों ने आस-पास के देशों में अपनी शक्ति का विस्तार करना आरम्भ किया। यहाँ पर हमें मुहम्मद साहब की नीति जान लेनी चाहिए। ये धार्मिक स्वतंत्रता के समर्थक और प्रचारक थे। ये अन्य-धर्म वालों से किसी प्रकार का द्वेष या शत्रुता नहीं करते थे; केवल यह चाहते थे कि जहाँ कहीं ये या इनके अनुयायी जायँ, कोई इनके प्रचार में वाधक न हो। जहाँ इन्हें स्वतंत्रता-पूर्वक अपने धर्म का प्रचार नहीं करने दिया गया, जहाँ इनके मार्ग में बाधाएँ उपस्थित की

गयीं, या इनके मतानुयाइयों पर कुछ अत्याचार हुआ, वहाँ इन्होंने डट कर मुकाबिला किया, और आवश्यकता होने पर तलवार का भी उपयोग किया। अन्यथा, इनके राज्य में, दूसरे धर्म वाले भी मजे से रह सकते थे, ये उनके धार्मिक कृत्यों में हस्तक्षेप न करते थे। प्रायः इनकी मुख्य बातें सीधी-सादी थीं; ईश्वर एक है, और मुहम्मद उसके दूत या पैगम्बर हैं। क्योंकि अनेक स्थानों में ईसाई धर्म और जरदुश्त धर्म आदि का स्वरूप बहुत बिगड़ा हुआ था, धार्मिक कट्टरता फैली हुई थी, इसलाम के भ्रातृ-भाव और प्रजातंत्र की बात बहुत आकर्षक प्रतीत हुई। जनता ने बड़े चाव से इस धर्म का स्वागत किया। परन्तु सत्ताधारी बादशाहों और महन्तों या धर्माध्यक्षों ने इसका कड़ा विरोध किया।

मुहम्मद साहब ने अपना धार्मिक संदेश कुस्तुनतुनिया, और ईरान तथा चीन के सम्राटों के पास भी भेजा। ये बड़े-बड़े शासक हैरान थे कि यह कौन व्यक्ति है, जो उनके पास संदेश या आदेश भेजने का साहस करता है। अस्तु, यह स्पष्ट है कि मुहम्मद साहब को अपने कथन में अटल विश्वास था, और वे संसार भर में अपने विचारों का प्रचार करना, अपना कर्तव्य समझते थे। उन्होंने इसे अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया था। तभी तो इसलाम धर्म का इतना प्रचार हो सका। किसी भी सिद्धान्त या वाद का विशेष प्रचार तभी हो सकता है, जब उसके प्रचारक को उसमें पूर्ण श्रद्धा हो। जो स्वयं संदेह में रहते हैं, अँधेरे में टटोलते हैं, वे दूसरों का

सफलतापूर्वक नेतृत्व नहीं कर सकते। दूसरों का पथ-प्रदर्शक या रहनुमा वही हो सकता है, जिसके मन में और हृदय में यथेष्ट प्रकाश हो।

मुहम्मद साहब के उत्तराधिकारी धर्माध्यक्षों को 'खलीफा' कहा जाता है। इन्हें ऐहिक और पारलौकिक दोनों शक्तियाँ या अधिकार थे, ये धर्माध्यक्ष भी थे, और इन्हें राजनैतिक प्रभुता भी प्राप्त थी। मुहम्मद साहब के देहान्त के सातवर्ष के भीतर अर्थात् सन् ६३९ ई० तक ही रोम साम्राज्य के प्रान्तों में से शाम (सीरिया) और मिश्र जीत लिये गये। इस प्रकार ऐंटियाक, सिकद्रिया (ऐलेग्जेंड्रिया) के प्रसिद्ध नगर, तथा ईसा मसीह की जन्म भूमि और ईसाइयों का पवित्र तीर्थ स्थान जेरुसलम, रोम साम्राज्य से निकल गये। अफ्रीका के मिस्र के अलावा अन्य भागों में, सन् ६४७ में आक्रमण आरम्भ हुये, परन्तु कार्थेज ६९८ तक न लिया जा सका, और तमाम उत्तरी प्रदेशों पर तो सन् ७०९ ई० में जाकर आधिपत्य हुआ। इन सब जीते हुये भागों से रोम के राज्य तथा सभ्यता के निशानों का जल्दी ही लोप हो गया।

इधर सेरेसन ईरान के साम्राज्य पर भी बड़े उत्साह से आक्रमण कर रहे थे। सन् ६३२ से ६५१ ई० तक यह तमाम राज्य जीत लिया गया; धीरे-धीरे ईरान मुसलमानों का देश हो चला। सेरेसेनों ने फिर उतर और पूर्व में सिन्ध (भारत) तथा आक्सस नदी के पार तुर्क-भूमि तक धावा किया। उन में नये धर्म का जोश था; शीघ्र ही उन्होंने एक विशाल बढ़ता हुआ

साम्राज्य स्थापित कर लिया। जैसे रोम साम्राज्य की स्थापना के कुछ सयय बाद वह साम्राज्य तथा उसके अन्तर्गत विविध जातियाँ प्रायः ईसाई धर्मावलम्बी हो गयीं, वैसे ही जहाँ जहाँ सेरेसनों का राज्य हुआ, वहाँ-वहाँ इसलाम धर्म का झण्डा फह-राने लगा, इस धर्म की प्रधानता हो गयी।

अरब वालों ने जिस तेजी और फुर्ती से दूर-दूर तक अपनी विजय पताका फहरायी, वह आश्चर्यजनक है। परन्तु इसमें कुछ भी रहस्य की बात नहीं है। अरब वालों का जीवन बहुत सादा था, उन्हें मुसीबतें और कठिनाइयाँ सहने का अभ्यास था। फिर उनमें एकता थी; उनमें भिन्न-भिन्न देवी देवताओं की पूजा प्रच-लित न होने से, वे धार्मिक भेद-भावों से बचे हुए थे। एक ईश्वर, एक धर्म को स्वीकार करके वे खूब संगठित हो गये। गुलामी की जिस प्रथा ने प्रत्येक साम्राज्य और सभ्यता को कलंकित किया है, उससे वे बचे रहे। उन्होंने दासों पर बहुत दया की, उन्हें अपनी सन्तान के बराबर समझा, और उत्तरा-धिकारी तक बनाया। इसके विपरीत; जिन भू-भागों पर अरबों ने विजय प्राप्त की वहाँ के निवासी अमीरी, शान-शौकत और विलासिता में डूबे हुए थे; अनेक दासों के होने से उनमें शारी-रिक श्रम करने की रुचि या सामर्थ्य नहीं रही थी; अथवा वे संगठन हीन और बिखरे हुए थे। यही कारण था कि विजय-लक्ष्मी अरब वालों के पक्ष में रही; जिधर वे गये, जीतते ही रहे।

अफ्रीका के उत्तरी हिस्सों पर अधिकार करने के बाद अरब

वालों ने सन् ७१० ई० में मूसा और उसके सहायक तारक के नेतृत्व में, स्पेन पर चढ़ाई की। इस देश को उस समय वंदाल जाति के नाम पर अंदालूसिया कहा जाता था। रोम-साम्राज्य के पतन के बाद यहां बंदाल और पश्चिमी गाथ जाति वाले फैले हुए थे। ये नाम-मात्र के ईसाई थे। मुसलमान विजेताओं के आने के समय, यहाँ पश्चिमी गाथ शासक, अपनी ज्यादतियों के कारण जनता में बहुत अप्रिय थे। अतः मुसलमानों को अपने आक्रमणों में यहाँ यहूदियों से सहानुभूति और सहायता मिली, जो गाथ शासकों के अत्याचारों से दुखी थे। निदान, तीन वर्ष के भीतर करीब करीब सारे स्पेन पर अरब वालों का अधिकार हो गया! यह विजय इतनी महत्वपूर्ण थी कि खलीफा ने मूसा को जल्दी ही वापिस बुला भेजा; उसे यह आशङ्का हुई कि कहीं ऐसा न हो कि वह स्पेन का स्वतन्त्र बादशाह बन बैठे। मूसा और तारक अपने साथ लूट का बेशुमार धन तथा बहुत से कैदी लिए हुए बड़ी शान और धूम-धाम से दमश्क लौटे।

आदमी की दूसरी तृष्णाओं की भाँति विजय-लालसा की भी कोई सीमा नहीं है। स्पेन में इसलामी पताका फहराने लगी, तो अरब वालों की सेनाएँ फ्राँस की ओर बढ़ीं। फ्राँस का नाम उस समय 'गाल' था। यहाँ अरबों का काफी विरोध हुआ, फिर भी इन्होंने बोर्डो नगर पर अधिकार कर लिया, और वहाँ से सन् ७३२ ई० में टूर्स की ओर बढ़ चले, जहाँ ईसाई गिरजा में विशाल सम्पति जमा की हुई थी। इस समय फ्राँस का मुखिया

चार्ल्स था, जो पीछे चार्ल्स मार्टल कहलाया। उसने देश-रक्षा के लिए अधिक-से-अधिक सैनिक इकट्ठे किये और अरबों को ऐसी करारी हार दी कि फिर उनका योरप-विजय का मनसूबा हमेशा के लिए जाता रहा। इस घटना से फ्रांस, जर्मनी, और हाँ, इंगलैंड भी, अरबों के अधिकार में आने से रह गया।

आठवीं शताब्दी के मध्य तक अरब वालों द्वारा जीते हुआ विशाल भू-खंड, योरप में स्पेन से लेकर, भारत में सिंध तक एक ही शासन में. दमश्क के खलीफा के अधीन रहा। सन् ७५० ई० में खलीफा की राजधानी बगदाद हो गयी। पीछे अरबों में खिलाफत के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में मतभेद और आन्तरिक झगड़े होने लगे। इससे उनकी शक्ति अब छिन्न-भिन्न हो गयी।

सन् ७५५ ई० में साम्राज्य कई हिस्सों में बँट गया, पीछे फिर कभी एक नहीं हुआ। स्पेन का बादशाह बगदाद के खलीफा की आधीनता से मुक्त होकर, स्वयं एक स्वतन्त्र खलीफा बन गया। उसकी राजधानी कारडोवा थी। इसी तरह मिस्र में भी एक अलग खलीफा हो गया। भिन्न-भिन्न प्रान्तों में शासक स्वाधीन होने लगे और बहुत से वंशों का, उदय हुआ, जो खलीफा का हुकूमत नाम-मात्र को मानते थे। मुसलमानों में कई मतों का प्रादुर्भाव हुआ, जिनमें से कई, एक-दूसरे को धर्म-विरोधी समझते थे। तथापि अधिकतर मुसलमान बगदाद के खलीफा को ही सबसे बड़ा मानते थे।

बगदाद का सबसे प्रसिद्ध खलीफा हारूँ-उल-रशीद हुआ

है। वह खासकर अपने न्याय के लिए मशहूर है। उसने पूर्वी-रोमन साम्राज्य (यूनान) पर आक्रमण किया था, और कुस्तुन-तुनिया की साम्राज्ञी ने ७०,००० स्वर्ण दीनार वार्षिक कर के रूप में देकर उससे मित्रता की संधि की थी। उसने बगदाद को खूब धनवान बनाया तथा इसे अर्बी भाषा की शिक्षा का एक महान केन्द्र बनाया।

स्पेन के बादशाह के स्वतन्त्र खलीफा बन जाने के विषय में ऊपर कहा गया है। इसके विरुद्ध जनता में विद्रोहभावना जागृत होने से, सन् ७७७ में फ्रांस के बादशाह चार्ल्स महान (शार्लमेन) को स्पेन पर धावा करने का अवसर मिला, पर उसे विशेष सफलता न हुई। अरब लोग स्पेन में आसानी से जम गये। इसके कई कारण थे। इनका शासन पूर्ववर्ती गाथ शासकों की अपेक्षा बहुत अच्छा था। ये करों को स्वेच्छा-पूर्वक न लगाकर नियमित और निस्पक्ष भाव से लगाते थे, प्रजा के धार्मिक भावों के प्रति सहिष्णु थे, और ये उसे उसके नियम और पंच आदि रखने देते थे। दासों के प्रति इनका व्यवहार दया का था।

कारडोबा (स्पेन) के खलीफाओं में सुलतान अबदुर्रहमान तृतीय का शासन विशेष उल्लेखनीय है। यह बगदाद के हारूँ-उल-रशीद, और देहली के अकबर के समान सुप्रसिद्ध है। इसने स्पेन के भीतर झगड़ों को निपटाया, और सब जातियों के लोगों पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया; ईसाइयों के विद्रोहों का दमन किया, और सड़क, पुल, नहर और जलमार्ग-बनवा कर, तथा शिक्षा, काव्य, विज्ञान, नौका-निर्माण आदि को प्रोत्साहन देकर,

देश की खूब उन्नति की। राजधानी में दूर-दूर के देशों के दूत रहते थे, और विदेशी राज्य खलीफा से मित्रता करने के इच्छुक होते थे। कारडोवा का पुस्तकालय और विश्वविद्यालय अपने समय में पश्चिमी संसार में सुप्रसिद्ध था; दूर-दूर के जिज्ञासु यहां आकर अपनी ज्ञान की प्यास बुझाते थे।

तेरहवीं सदी पूरी होने से पहले स्पेन में अरबों की शक्ति का बहुत ह्रास हो चला, कारण यह था कि उत्तर के ईसाई राज्यों की शक्ति बहुत बढ़ गयी थी। अन्त में अरबों के पास स्पेन में केवल ग्रेनाडा रह गया, यहाँ सन् १४९२ में इसलामी शासन का अन्त हुआ।

सेरेसन साम्राज्य के अन्य भागों पर धीरे-धीरे तुर्कों का अधिकार होता आ रहा था। ग्यारहवीं सदी में ईरान में कई तुर्क-वंशों का उदय हुआ। सन् १०७१ ई० में सेलजुक तुर्कों ने पूर्वी रोमन सम्राट् को हटाकर उसके समस्त एशियाई प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। फिलीस्तीन (पेलस्टाइन) समय-समय पर विविध मुसलिम शक्तियों द्वारा जीता गया।

सन् १०९२ ई० में सेजलुक वंश का राज्य कई भागों में विभक्त हो गया। एक वंश के सुलतान लघु-एशिया में राज्य करते थे, और क्योंकि यह भाग पूर्वी रोमन सम्राट् से जीत कर लिया गया था, इस वंश के राज्याधिकारी अपने आपको रोम का सुलतान कहने लगे।

इसी समय कई बातें ऐसी हो गयीं जिससे ईसाई राज्यों को संगठित होकर, मुसलमानों की शक्ति का ह्रास करने की

उत्तेजना हुई। पहली बात तो यही थी कि अब मुसलमानों में एकता न थी। इसलामी राज्य में जुदा जुदा खानदान वालों की हुकूमत थी। इधर पूर्वी रोमन साम्राज्य में कुछ अच्छे वीर शासक हुए। इसके अलावा, योरप के पश्चिमी देशों में इस बात का खूब प्रचार किया गया कि फलिस्तीन पर तुर्कों का अधिकार होने से, वहाँ के पवित्र तीर्थ-स्थान जेरूसलम की यात्रा करने वाले ईसाई बहुत कष्ट पाते हैं। धार्मिक भावना वाले ऐसी बातों पर सहज ही विश्वास कर लेते हैं। वे इनकी सत्यता की जाँच करने नहीं बैठते; फिर, जर्मनी, फ्रांस या इंगलैंड आदि के निवासियों के लिए यह जाँच करना कुछ सहज भी न था। बस, पश्चिमी जातियों ने इस पवित्र ईसाई तीर्थ को, तथा इस नगर और इसके आस-पास के ईसाइयों को, तुर्कों और मुसलमानों की अधीनता से मुक्त करने के लिए कमर कस ली। दूर-दूर से, अनेक कष्ट सहते हुए अनेक ईसाई 'क्रुसेड' (धर्मयुद्ध) के लिए जेरूसलम आने लगे। यहाँ आने वालों को अनुभव होता था कि तुर्कों का व्यवहार अच्छा है, उन्हें व्यर्थ बदनाम किया जाता है। दो सौ वर्ष तक, ये यात्राएँ होती रहीं। कुछ आदमी तो पश्चिमी एशिया में बस कर व्यवसाय आदि करने लग जाते, और अपने लिए तथा अन्य बन्धुओं के लिए पूर्वीय देशों के कला-कौशल का ज्ञान और अन्य अनुभव ले जाते। अस्तु, उपर्युक्त मिथ्या-प्रचार से ईसाइयों को संगठित होने की बहुत प्रेरणा मिली।

सातवीं शताब्दी में सेरेसनों ने, पूर्वी रोमन साम्राज्य के

अधीन, पश्चिमी एशियाई प्रदेशों पर, जो विजय प्राप्त की, उस का जिक्र पहले किया जा चुका है। उन्होंने उक्त साम्राज्य की राजधानी कुस्तुनतुनिया पर भी समय-समय पर धावा किया था। यदि वे उसे उस समय जीत लेते तो आज दिन संसार में ईसाई मत और योरपियन सभ्यता का वह स्थान न होता, जो इस समय है। अस्तु, पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य तक यहाँ इसलामी शासन स्थापित न हो सका; सन् १४५३ ई० में यह प्रदेश उसमानी (आटोमन) तुर्कों के अधीन हुआ। क्रमशः इन तुर्कों का साम्राज्य बढ़ता ही गया।

पन्द्रहवीं और सोलहवीं सदी में इस साम्राज्य की चन्द्रमा के निशान वाली विजय-पताका दक्षिण पूर्वी योरप में ही नहीं, पश्चिमी एशिया के कई भागों पर, तथा अफ्रीका के उत्तरी प्रदेशों पर भी फहरा रही थी। अठारवीं सदी में आस्ट्रिया और और रूस ने इसका कुछ हिस्सा ले लिया था, फिर भी यह साम्राज्य काफी बड़ा था।

इस साम्राज्य का ह्रास, विशेषतया उन्नीसवीं सदी से हुआ। पहले सर्बिया ने (जो पिछले योरपीय महायुद्ध के बाद यूगोसलेविया का अंग हो गया) कुछ स्वतन्त्रता प्राप्त की। फिर यूनान ने सिर उठाया, योरप की ईसाई जातियों ने उसकी पीठ ठोकी, आखिर इङ्गलैंड, फ्राँस और रूस की सहायता से वह स्वतन्त्र हो गया। रूस की नज़रों में उसका पड़ोसी तुर्क साम्राज्य बहुत समय से खटक ही रहा था। अब उसने इससे कुछ छीनने-झपटने का अच्छा अवसर समझा। रूस में

स्लाव जाति के ही आदमी बहुत हैं। उसने तुर्की से कह दिया कि तुम्हारे शासन में जितने भी स्लाव हैं, उनका संरक्षक मैं रहूँगा; तुम तो मुसलमान हो, तुन उनके प्रति ठीक कर्तव्य पालन नहीं करते। तुर्की रूस की ऐसी मांग कैसे स्वीकार कर सकता था; यह तो अपने घर में शत्रु की देख-रेख होने देना था। बस, दोनों की लड़ाई ठन गई। ईसाई होने के नाते, योरपियन राष्ट्रों की सहानुभूति रूस से होनी चाहिए थी, पर स्वार्थ ने धर्म पर विजय पायी। इङ्गलैंड और फ्रांस नहीं चाहते थे, कि रूस की ताकत बहुत बढ़ जाय। इङ्गलैण्ड ने सोचा कि यदि रूस ने तुर्की पर विजय प्राप्त करली, तो भारतवर्ष को जाने का मार्ग उसके अधिकार में हो जाने से, हमारे लिए संकट उपस्थित हो सकता है। फ्रांस तो उसी समय से रूस का बुरा चाह रहा था, जब से उसने नेपोलियन की प्रभुता अस्वीकार की थी, और उसे हराने में भाग लिया था। इटली इङ्गलैंड और फ्राँस से मिल गया; उसे आशा थी कि रूस से इस समय लड़ने से कुछ मिल ही जायगा। अस्तु, तीनों राज्यों ने रूस का विरोध किया। तुर्की हारने से बच गया। पर उसका रूस से एवं अन्य पड़ोसी राज्यों से, समय-समय युद्ध पर होता ही रहा।

बेचारे तुर्की की बुरी हालत थी। चारों ओर यह शत्रुओं से घिरा था। सब इसे रोगी समझते थे, कुछ इसे मारने की फिकर में थे, दूसरे इसके मरने की प्रतीक्षा करते थे। रूस के ज़ार ने इसी को ध्यान में रखकर, ब्रिटिश राजदूत से कहा था—'हमारे पड़ोस में एक रोगी है, यह बहुत ज्यादह बीमार है,

यह कभी भी मर सकता है।' उस समय से तुर्की 'योरप का मरीज़' प्रसिद्ध हो गया! इसके विरुद्ध कभी एक राज्य खड़ा होता, कभी दूसरा और कई बार तो कई-कई राज्य इकट्ठे हो-कर इससे लड़ते। इतने विरोधियों के होते हुए, यह साम्राज्य कब तक बना रहता! धीरे-धीरे इसके वे सब भाग स्वतंत्र हो गये। जो योरप में थे। पिछले योरपीय महायुद्ध (१६१४-१८) के बाद इसे मिश्र, ईराक और अरब से भी हाथ धोना पड़ा। साम्राज्य के टूक टूक होने में जो देर लगी, उसका कारण यह हुआ कि योरप के राष्ट्रों का आपस में वैमनस्य और प्रतिद्वन्दिता थी। वे इसके बँटवारे में, तथा इसके भागों की नयी व्यवस्था करने में जल्दी सहमत न हो सके। नहीं तो यह साम्राज्य इतने दिन तक रोग-शय्या पर न पड़े रहकर, कभी का मर गया होता।

इस अध्याय में सेरेसन और तुर्क दो साम्राज्यों के सम्बन्ध में लिखा गया है। अब इनके पतन के कारणों पर कुछ विशेष विचार करना है। पहले सेरेसन साम्राज्य को लें।

सेरेसन साम्राज्य के पतन के सम्बन्ध में मुख्य बात यह है कि मुहम्मद साहब के बाद उनके सादे रहन-सहन का आदर्श बहुत समय तक न निभ सका। केवल आरम्भ में, तीस वर्ष तक खलीफ़ाओं ने सादगी के नियमों का कठोरता-पूर्वक पालन किया। ये खलीफ़ा यदि चाहते तो सब तरह के सुख-भोग के साधन इन्हें सहज ही मिल सकते थे। इनकी, विशाल साम्राज्य पर हुकूमत थी। परन्तु ये सब सुख समृद्धि से घृणा करते थे;

और तो क्या, न पहिनने को अच्छे कपड़े का उपयोग करते थे, और न भोजन में ही कुछ विशेषता रखते थे। मोटा-झोटा जैसा मिला उसी से निर्वाह किया। ये समझते थे कि हमारे शासन में कुछ आदमी निर्धन भी तो हैं, हमें उनकी अपेक्षा अधिक सुख या सुविधाएँ पाने का कोई अधिकार नहीं। ये बिल्कुल गरीबों का जीवन व्यतीत करते थे, और, घर-गृहस्थी का साधारण कार्य करने में भी इन्हें कोई संकोच न था। इनका यह साधु-संतों का सा रहन-सहन इनके अधीन प्रान्तीय शासकों को क्या, उनसे भी नीचे दर्जे के अधिकारियों को अच्छा नहीं लगता था। परन्तु वे विवश थे, जब ऊँचा अफ़सर ही सादगी और गरीबी से रहे, तो उन्हें शान-शौकत रखने, या वाह्य आडम्बर रचने में लज्जा आती थी। अनेक मुल्ला, मोलवी भी इतनी सादगी और कष्ट-सहिष्णुता नापसन्द करते थे। ये सब लोग भीतर ही भीतर अपनी अप्रसन्नता बनाये हुये थे। तीस वर्ष बाद इन्होंने अपनी इच्छानुसार इस ढङ्ग में परिवर्तन कर डाला। अब ये अमीरों और धनी लोगों का सा जीवन बिताने लगे। फिर तो ऐशोआराम, वैभव, विलासिता आदि सभी दुर्गुणों की वृद्धि होने लगी, जो किसी भी संस्था के ह्रास का कारण होते हैं, और जो साम्राज्य संचालन में निश्चित रूप से विघ्न डालते हैं।

साम्राज्य के भिन्न-भिन्न भागों के शासकों की स्वतंत्रता की बात पहले कही जा चुकी है। जो कर्तव्य-बुद्धि विशाल संगठन का प्राण थी, उसका लोप हुआ; उसका स्थान अधिकार-तृष्णा

ने ले लिया। जब किसी संस्था में, विशेषतया महान संस्था में, आदमी अपने-अपने अधिकारों के लिए एक दूसरे से प्रतिद्वन्दिता करें, घर मे ही मत-भेद और फूट हो तो उस संस्था का जीवन शीघ्र समाप्त हो जाना स्वाभाविक ही है।

अब तुर्क साम्राज्य के पतन पर विचार करें। ईसाई इतिहासकारों का कथन है कि इस साम्राज्य मे अन्य धर्म वालों पर विशेषतया ईसाइयों पर, वहुत सख्ती और अत्याचार किये जाते थे, इसलिए विविध ईसाई राज्यों ने मिलकर इसे खंड-खंड कर दिया। इस सम्बन्ध में हमें यह कहना है कि प्रायः सभी साम्राज्यों के शासकों ने अन्य थोड़ी-वहुत ज्यादतियां की हैं। जब तक अधीन जातियों का बस नहीं चलता, वे चुप-चाप अत्याचारों को सहती रहती हैं, और मौका मिलते ही सिर उठाने को इच्छुक होती हैं। उन्हें अपने अन्य-देशीय सजातीय बन्धुओं, अथवा समान स्वार्थ रखने वाले लोगों की सहानुभूति भी प्राप्त हो जाती है। फिर, जब कोई राष्ट्र किसी देश पर आक्रमण करना चाहता है तो उस कोई-न-कोई निमित्त मिल ही सकता है। ईसाई राष्ट्रों को भी, तुर्क साम्राज्य पर आक्रमण करने के लिए, यह एक अच्छा बहाना था कि तुर्कों के शासन में ईसाइयों से सद्व्यवहार नहीं होता। यह कहना झूठा था; पर दुनिया ठहरी, यहाँ कई बार झूठी बात ही चल जाती है, और बहुत असर डालने वाली हो जाती है। हाँ, तो इस आधार पर ईसाइयों का संगठन हो गया। समय-समय पर कई-कई राज्यों ने अपनी सम्मिलित शक्ति और कूट नीति से इस साम्राज्य का

अंग-भंग कर दिया।

दूसरी विचारणीय बात यह है कि तुर्की शासक भिन्न-भिन्न जातियों, विशेषतया ईसाइयों, के युवक रंगरूटों की भरती किया करते थे। ये 'जानिसारी' कहलाते थे। इनमें से जो बलवान शूरवीर होते थे उन्हें सैनिक बनाया जाता था। इनकी सुशिक्षित सेना सर्वत्र शत्रुओं पर विजयी होती थी। अन्य योग्य व्यक्ति साम्राज्य के अन्य विविध कार्यों का सम्पादन करते थे। इस प्रकार यह युवक दल साम्राज्य के अन्य विविध कार्यों का सम्पादन करते थे। इस प्रकार यह युवक दल साम्राज्य की सफलता का मुख्य कारण था। पीछे इन सिपाहियों की एक अलग जाति सी ही बन गयी, जिसमें वह शौर्य न था। अन्य देशों में नये रंगरूटों की भरती भी कठिन हो गयी। शासन-कार्य के लिए योग्य कर्मचारियों का भी अभाव हो गया। तुर्कों की आराम-तलबी आदि का उल्लेख ऊपर किया ही जा चुका है। बस, साम्राज्य का भार संभाला जाना तुर्कों के लिए क्रमशः असह्य होता गया।

इसके अतिरिक्त, इस साम्राज्य के पतन का एक विशेष कारण यह भी हुआ कि इसने चारों ओर आधुनिक, औद्योगिक और वैज्ञानिक राष्ट्रों से घिरा रहते भी, अपने पुराने ढर्रे को पकड़े रखा और आत्म-रक्षा के नये साधन नहीं जुटाये। संसार में कोई संस्था देश-काल की उपेक्षा करके चिर काल तक जीवित नहीं रह सकती।

———

चौदहवाँ अध्याय

पवित्र रोमन साम्राज्य

रोमन के अधिकार की हद जो भी रही हो, इसके पीछे विश्व-राज्य की भावना थी। और, इस भावना को पश्चिम के उस जमाने के अधिकांश आदमियों ने मंजूर कर लिया था। इसी ख्याल की बुनियाद पर रोमन साम्राज्य इतने दिनों तक ज़िन्दा रहा।

—*जवाहरलाल नेहरू*

प्रत्येक धर्म, कम-से-कम प्रारम्भ में, कुछ अच्छे उपयोगी सिद्धान्तों को लेकर चलता है। योरपीय राष्ट्रों के पारस्परिक तथा विश्वव्यापी युद्धों को दृष्टि में रख कर, लोगों के मन में ईसाई धर्म के प्रति चाहे जैसी भावना हो, यह निर्विवाद है कि इस धर्म ने अपने सामने विश्व-बन्धुत्व का आदर्श रखा। पहले तो इस धर्म का रोम-साम्राज्य के केन्द्र (रोम) में विरोध ही हुआ। बात यह थी कि रोम वाले विविध देवी-देवताओं को मानते थे, और ईसाई-धर्म एक ईश्वर की पूजा का आदेश करता था। रोम का इस धर्म से विरोध इसलिए भी था कि प्रथा के अनुसार, सभी सम्प्रदायों के अनुयायी राजा या सम्राट् की पूजा करते थे, अब ईसाई धर्म-प्रचारक ईसा के इस वाक्य

का उल्लेख करके कि 'जो राजा का है, वह राजा को दो, और जो ईश्वर का है, वह ईश्वर को दो,' लोगों द्वारा राजा की पूजा निषिद्ध ठहराते थे। धीरे धीरे ईसाई धर्म की समता और विश्व-प्रेम की बातें लोगों की समझ में आती गयीं, और वे इस धर्म का स्वागत करने लगे। होते-होते यह धर्म साम्राज्य का राज-धर्म हो गया। रोम के ईसाइयों का एक धर्म (ईसाई), एक भाषा (लेटिन), और एक कानून (रोमन), का आदर्श अधिकाधिक प्रिय होने लगा। एकता के इन भावों का यह नतीजा हुआ कि जब आठवीं सदी के अन्त में प्रतापी बादशाह शार्लमेन के ज़माने में धार्मिक और राजनैतिक एकता ने मूर्त स्वरूप धारण कर 'पवित्र रोमन साम्राज्य' की स्थापना करदी।

इस साम्राज्य को 'पवित्र' इसलिए कहा गया कि योरप वालों ने इसे तत्कालीन तथा पूर्वकालीन साम्राज्यों की अपेक्षा श्रेष्ठ समझा, और, इसे गिरजाघर के अधिकार या आशीर्वाद से स्थापित किया गया था; फिर, वह गिरजाघर भी किसी मामूली स्थान का नहीं, स्वयं रोम का। स्मरण रहे कि प्राय: लोगों की यह धारणा है कि ईसा मसीह का सुप्रसिद्ध शिष्य पीटर रोम आया था, और यहाँ का विशप बना था। इससे ईसाई इस नगर को बहुत पवित्र मानने लगे, और रोम के विशप का पद बहुत ऊँचा समझा जाने लगा। पीछे, जब सम्राट् कुस्तुनतुनिया चला गया तो उस विशप के पद का महत्व और भी बढ़ गया, कालान्तर में वह पोप कहा जाने लगा। रोम साम्राज्य के पतन के पश्चात् इटली आदि पर उत्तर के आदमियों

का शासन और अधिकार रहा, तथापि कुछ समय तक पूर्वीय सम्राटों ने उस उपदेश को अपने अधीन बनाये रखने का प्रयत्न किया। जब रोम के धर्माध्यक्ष के नाते पोप की शक्ति बढ़ गयी तो उसने मूर्ति-पूजा के प्रश्न पर रोम को कुस्तुनतुनिया से पृथक् कर दिया। पीछे आक्रमणकारियों से रक्षा करने के लिए पोप ने फ्रैंक (जर्मन) जाति के सरदार से सहायता मांगी, और जब यह सरदार रोम की रक्षा करने में सफल हो गया तो उसे पोप ने राज-मुकुट पहनाया; इस पर वह सम्राट् शार्लमेन या 'चार्ल्स महान' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

संसार में अनेक वस्तुएं यथा-नाम नहीं होतीं। कितने ही आदमी करोड़ीमल नाम वाले होकर भी अपनी आजीविका के लिए इधर-उधर भटकते हैं। और, कितने ही शान्तिस्वरूप नाम वाले असल शान्त स्वभाव के नहीं होते। ऐसी ही बात इस 'पवित्र रोमन साम्राज्य' के विषय में चरितार्थ होती है। पहले इसके 'पवित्र' विशेषण को लीजिए। जब पोप और सम्राट् के पारस्परिक झगड़े हुए, अथवा पोप के कर्मचारियों ने लोगों को बल-पूर्वक कैथलिक बनने के लिए घृणित और हिन्सक उपायों का अवलम्बन किया, अथवा लोगों से, उनके पापों से मुक्त करने के बहाने नाना प्रकार से रुपया ऐंठ कर अपना वैभव, और ऐश्वर्य बढ़ाया तो उस समय साम्राज्य को पवित्र कहना मानों पवित्र शब्द का उपहास करना था। इस साम्राज्य को 'रोमन' कहने से इसके अन्तर्गत जिस कायदे-कानून और सुव्यवस्था का आभास होता है, उसकी इसमें बहुत

कमी ही रही। सम्राट् न रोमन था, और न रोम में रहने वाला ही था। फ़िर, सम्राट् की सत्ता अनेक बार इतनी कमजोर रही, और माँडलिक राजाओं पर उसका नियन्त्रण इतना कम रहा कि उसके अधिकार वाले क्षेत्र को साम्राज्य कहना ठीक नहीं है ऐसे ही विचारों से आधुनिक लेखक इसके इस नाम पर एतराज करते हैं। फ्राँस के सुप्रसिद्ध लेखक वालटेयर ने कहा हैं कि यह साम्राज्य न तो पवित्र था, न रोमन और न यह साम्राज्य ही था।

किन्तु यह बात तो पीछे आनेवाली पीढ़ियों की दृष्टि से कही गयी। जिस समय यह साम्राज्य स्थापित हुआ, उस समय से लेकर कई शताब्दियों तक, सर्वसाधारण को इसके इस नाम पर कोई आपत्ति न थी। उसके लिए इसका बड़ा आकर्षण तथा गौरव था। उन्हें इसमें समस्त (ईसाई) धार्मिक समाज की राजनैतिक और धार्मिक एकता के प्रत्यक्ष दर्शन होते थे। उन्हें यह दृढ़ विश्वास था कि सब ईसाई जनता का एक ही साम्राज्य है जिसका प्रधान शासक एक ही सम्राट् है। उन्हें यह रोम-साम्राज्य का सिलसिला प्रतीत होता था, कोई नया संगठन नहीं। विशेषता यह थी, कि इस साम्राज्य का आधार सैनिक शक्ति या तलवार न थी, और न इसके सम्राट् अनसमझ लोगों, अथवा लोभी या पदाभिलाषी मतदाताओं, के बनाये हुए थे।

तेरहवीं शताब्दी के आरम्भ से ही इस साम्राज्य का ह्रास होने लग गया। पहले, सम्राट् पोप से राजमुकुट ग्रहण करने के लिए रोम जाया करते थे। अब कितने-ही जर्मनी में बादशाह

चुने जाने के बाद रोम नहीं गये; और जो वहाँ गये भी, उनका इटली पर कुछ विशेष अधिकार न रहा। अन्य कई भागों की भांति इटली भी साम्राज्य से अलग हो गया। साम्राज्य का पोपों से भी कुछ सम्बन्ध न रहा। अच्छा तो फिर साम्राज्य ही क्यों रहा ? बात यह थी कि जर्मनी को ऐसे बादशाह की आवश्यकता होती थी, जो वहाँ के अन्य राजाधिकारियों या नरेशों में प्रमुख हो; क्योंकि गत तीन शताब्दियों से उसके बादशाह सम्राट् कहे जाते रहे थे, अब भी उन्हें यह नाम धारण करना आवश्यक प्रतीत हुआ। फिर (पश्चिमी) योरप की एकता का विचार, कुछ धुंधले रूप में ही सही, लोगों के मन में बना ही रहा। सम्राट् की. कानूनी दृष्टि से आवश्यकता थी। जर्मनी में वह विधि राजाओं को राज्याधिकार प्रदान करने के लिए आवश्यक थी, और योरप में वह अब अधिकारो के स्रोत के रूप में, भावी बादशाहों को राजमुकुट देने; तथा दूसरे आदमियों के विविध अधिकारों को प्रमाणित करने, आदि के लिए आवश्यक थी।

पन्द्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में साम्राज्य तथा धर्म की एकता का विचार क्षीण होने लगा। जगह जगह आदमी यह सोचने लगे कि हमारे बादशाह को रोम के पोप की आधीनता में रहने की आवश्यकता नहीं, हमें अपने-अपने धर्म की व्यवस्था में स्वतंत्र रहना चाहिए। और, जब सम्राट् इङ्गलैंड और फ्रांस के तथा अन्य स्थानों के पारस्परिक झगड़ों को मिटाने में असमर्थ रहा तो साम्राज्य की एकता का विचार जाता रहा। सुधार

की लहर ने, और नये-नये विषयों के विचार ने, साम्राज्य सम्बन्धी प्राचीन आदर्श को भी लुप्त कर दिया। योरप के राजनैतिक एकता के स्थान में, अलग-अलग राष्ट्रीय-राज्यों का विचार होने लगा। धार्मिक सुधार की भावना ने ईसाई समाज को दो भागों में बाँट दिया; पुराने मत वाले, 'रोमन केथलिक' कहलाये; और नये मतवाले 'प्रांटेस्टैंट'। प्रोटेस्टैंट अनेक सख्तियों को सहते हुए भी क्रमशः बढ़ते रहे। इन दोनों सम्प्रदायों में पीछे जाकर भयंकर लड़ाई झगड़े हुए, लाखों आदमियों का रक्तपात और बेशुमार सम्पत्ति का नाश हुआ। धर्म-सुधार आन्दोलन के प्रधान क्षेत्र, जर्मनी में जब दो परस्पर विरोधी दल हुए तो सम्राट् की कुछ न चली; वह अधिक से अधिक-एक-दल का मुखिया रह गया, इससे साम्राज्य की एकता को उसी देश में गहरा धक्का पहुँचा, जो कई शताब्दियों से साम्राज्य का केन्द्र था।

सोलहवीं शताब्दी के मध्य से जर्मनी जुदा-जुदा राज्यों का एक संघ रह गया। सम्राट् कहने को तो चुना जाता था, पर असल में वह परम्परा के अनुसार हेप्सवर्ग वंश का होता था। पहले वह योरप के विविध राज्यों के पारस्परिक (अन्तराष्ट्रीय) मामलों को निपटाने का प्रयत्न करता था; अब केवल जर्मनी के भीतरी विषयों का सरपच रह गया, वह भी पूर्ण प्रभावशाली नहीं। अठारहवीं सदी में साम्राज्य नितान्त बलहीन और कलह की वस्तु था, न पवित्र, न रोमन, और न वास्तव में साम्राज्य ही। तथापि इसका अस्तित्व था, वह कल्पना के लिए तो था

हो। इसका अन्त फ्रांस की राजक्रान्ति ने किया। नैपोलियन ने सन् १८०६ में फ्रांस के राज्य को इटली और लम्बार्डी के साथ मिलाने के लिए फ्रैंसिस द्वितीय को सम्राट् पद से हटाने का, और 'पवित्र रोमन साम्राज्य' को अपने साम्राज्य का अंग बनाने का, निश्चय किया। पर स्वाभिमानी फ्रैंसिस द्वितीय का निश्चय था कि जिस मुकुट (राज्य) की मैं रक्षा नहीं कर सकता, उसे ग्रहण करने का और भी किसी को अधिकार नहीं। इसीलिए उसने इस पद को छोड़ ही दिया; उसने आस्ट्रिया के सम्राट् का पद ग्रहण कर लिया। इस प्रकार अपने जीवन की अन्तिम कई शताब्दियों में नाम-मात्र की वस्तु रह कर, सन् १८०६ ई० में इस साम्राज्य का अन्त हो गया।

यह साम्राज्य बहुत कुछ काल्पनिक या नाम मात्र का था; परन्तु संसार में विचारों का भी बड़ा बल होता है; दुनिया में बड़े आदमियों के नाम से, अथवा उनके दो शब्द कह देने से भी कभी कभी बड़े-बड़े काम हो जाते हैं। इस साम्राज्य के काल्पनिक होते हुए भी इसके द्वारा, धर्म और शिक्षा आदि में, समाज की अच्छी सेवा हुई। इसके रोमन केथलिक (केथलिक =उदार, सर्व-व्यापी) धर्म ने आरम्भ में यथा-नाम गुणों का परिचय दिया, सब देशों और सब जातियों के लोगों के लिए इसका द्वार खुला था; यही नहीं, किसी भी सामाजिक स्थिति के आदमी धर्माध्यक्ष तक बन सकते थे। इस धर्म के प्रारम्भिक अनुयाइयों ने अनेक कष्ट सहकर दूर-दूर के देशों में भ्रमण कर लोगों को सद्व्यवहार, सभ्यता और सदाचरण आदि की

शिक्षा दी। कई शताब्दियों तक इस धर्म के गिरजाघर (मन्दिर) ही विद्या के केन्द्र थे, और कोई भी विद्यार्थी या जिज्ञासु यहाँ आकर बिना भेद-भाव विविध विषयों की शिक्षा पा सकता था।

पोपो ने धर्म प्रचारार्थ बस्तियों से बाहर अनेक मठों की स्थापना की, इनके महन्तों ने आरम्भ में बहुत समय तक बड़े संयम और सादगी का जीवन बिताया, रूखे-सूखे भोजन और मोटे-झोटे वस्त्र पर निर्वाह करते हुए ये धर्म-सेवा में लगे रहते थे, असहाय अनाथ और रोगियों की यथोचित सहायता करते और अनुभव के अनुसार विविध घटनाओं को लिखा करते थे। इनके लेखों से पीछे लेखकों को तत्कालीन इतिहास की बहुत सामग्री मिली है।

पवित्र रोमन साम्राज्य ने धार्मिक तथा राजनैतिक आदर्शों और भूमि ग्रहण या सामन्त पद्धति आदि की समानता से, (पश्चिमी) योरप के सामने एकता की अच्छी मिसाल रखी। यह ठीक है कि पोप और सम्राट् की दो भिन्न-भिन्न सत्ताएँ विद्यमान थीं, और इन दोनों का समय-समय पर बड़ा घातक विरोध हुआ। प्रत्येक ने दूसरे को अपने अधीन करने का भरसक प्रयत्न किया, किन्तु इन दोनों में से किसी एक को उच्च और श्रेष्ठ माने बिना पूर्ण एकता सम्भव न थी। तथापि तत्कालीन लोगों को वह त्रुटि विशेष रूप से अखरती नहीं थी। वे कुछ-न-कुछ एकता का ही अनुभव करते थे, और किसी दिन वह एकता बढ़ेगी या पूरी हो जायगी, ऐसी आशा करते थे। यह आशा कभी पूरी न होने पर भी योरप के देश अन्य देशों की

अपेक्षा, एक दूसरे से अधिक मेल-जोल रखते हैं। योरपीय राज्य भाषा, व्यापार, सभ्यता; और शासन तथा साहित्य में जितना एक दूसरे से मिलते हैं, इतना संसार के दूसरे हिस्सों से नहीं। जहाँ तक उनके आपसी स्वार्थों का संघर्ष न हो, वे अन्य राज्यों से व्यवहार या युद्ध आदि करने में अपनी एकता का परिचय देते हैं, और आज दिन एशिया और अफ्रीका वालों के लिए 'योरपियन' शब्द कुछ अर्थ रखता है। प्रायः हम योरप के किसी आदमी की जाति, देश या धर्म की ओर ध्यान न देते हुए उसे योरपियन मात्र कहते हैं। योरप की यह थोड़ी बहुत एकता कुछ अंश में 'पवित्र रोमन साम्राज्य' की देन, अथवा उसके समय का बचा हुआ अंश, कही जा सकती है।

अस्तु, अब हम इस साम्राज्य के पतन पर विचार करें। उस साम्राज्य का अन्त किसने किया, इसकी मृत्यु का दायित्व किस पर है; क्या यह स्वयं ही उसके लिए दोषी नहीं है?

इस साम्राज्य का बल लोगों का यह विचार था कि समस्त सभ्य (ईसाई) समाज एक है, और इस समाज का संगठन जिस आदर्श पर होना चाहिए, वह प्राचीन रोम साम्राज्य है। यही बात इस साम्राज्य की सब से बड़ी निर्बलता भी थी। इस साम्राज्य का आधार केवल लोगों के विचार थे। आत्मा थी; शरीर नहीं; यदि शरीर था भी तो प्रायः रोगी रहने वाला था, यथेष्ट भौतिक शक्ति का अभाव था। समय-समय पर इस व्यवस्था के दोष सामने आये। प्रबल प्रतापी सम्राट् समस्त साम्राज्य का सूत्र संचालक हो सकता था, परन्तु कमजोर

आदमी का, इस संसार में बहुत समय आदर मान नहीं होता। साम्राज्य के दावेदार अनेक बार एक ही समय में कई-कई हो गये; कोई शक्ति उनका आपस में समझौता न करा सकी, किसी का उन पर नियंत्रण न हुआ। उत्तराधिकारियों की फूट से दलबन्दी का बाजार गर्म हुआ। मांडलिक राजाओं या सरदारों ने ज़ोर पकड़ा। साम्राज्य की एकता विलुप्त हो गयी। अब किसी सम्राट् के यह कहने का कुछ अर्थ न रहा कि परमात्मा से सारी भूमि मुझे मिली हैं, और सामन्त सरदार आदि भूमि मुझसे लेते हैं, और इस प्रकार सब एक मात्र मेरे अधीन हैं, और किसी की प्रभुता नहीं। फिर, जब कि पोप (ईसाई धर्म का सर्वोच्च अधिकारी) भी ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप में समस्त राज्य का दावेदार बने, यहाँ तक कि सम्राट को अपने अधीन एक प्रमुख सामन्त माने, और जगह-जगह अपने कर्मचारियों का जाल फैलाकर लोगों में परलोक-भय उत्पन्न करता हुआ, उन्हें सम्राट के विरुद्ध करने, और अपने पक्ष में लाने, का षड्यन्त्र करे तो साम्राज्य की दशा क्या होगी, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

पर इसमें आश्चर्य क्या! साम्राज्यों का जीवन राजनीति होती है। इस साम्राज्य ने धर्म को उसका स्थान नहीं दिया तो उसकी बराबरी का कर दिया था। शासन की एक बागडोर सम्राट् के हाथ में थी, तो दूसरी पोप के अधीन रहने लगी थी। यह एक मियान में दो तलवारों की सी बात थी। स्वतन्त्र और बलवान राष्ट्रों का निर्माण हो जाने पर उन्होंने इन दोनों

सत्ताओं का विरोध करना आरम्भ किया। सम्राट् तो बहुत समय से प्रायः निर्बल होने लगा था। पोप की सत्ता बनी हुई थी, उसने योरप के धार्मिक ही नहीं राजनैतिक विषयों में भी पर्याप्त हस्तक्षेप करना आरम्भ किया। उसकी प्रतिक्रिया हुई, स्वतन्त्र भावनाओं का उदय हुआ। स्वतंत्र राष्ट्रों के लिए सम्राट् की भाँति पोप का हस्तक्षेप असह्य था। पीछे जाकर परिस्थिति-वश पोप की गद्दी रोम से अविग्नान (फ्रांस) आयी, तब तो पोप मानों फ्रांस के बादशाह का शरणागत था, और, जब रोम और आविग्नान दोनों स्थानों में अलग-अलग पोप बने और दोनों का पारस्परिक विरोध हुआ तो पोप की सत्ता का क्षीण होना अनिवार्य था। इधर, पोप और उसके कर्मचारी इतने लोभी एवं आतंककारी हो गये, कि जो आदमी चाहे वह बादशाह ही क्यों न हो; उनके आदेश के विरुद्ध चलता मालूम होता, उसे वे कठिन-से-कठिन सामाजिक, या आर्थिक दंड देते। सत्य, विज्ञान, और तर्क को अन्धश्रद्धा और अन्ध-विश्वासों के घाट उतारा गया। आविष्कारकों, अन्वेषकों तथा जिज्ञासुओं का बुरी तरह दमन किया गया। इस साम्राज्य में नागरिक यह प्रत्यक्ष अनुभव करने थे कि हमारे बादशाह या सम्राट के ऊपर पोप आदि ऐसे आदमियों का अधिकार है, जिनका स्वयं कुछ ऊँचा आदर्श नहीं, कुछ अच्छा जीवन नहीं। पोप और उनके कर्मचारी तो राज्य के कानून से मुक्त थे ही, दूसरे आदमी भी उनकी शरण में जाकर राज-नियमों की अवहेलना कर सकते थे। ऐसे साम्राज्य का शिथिल और निर्बल होना

स्वाभाविक था, विशेषतया जब कि इसके विविध भागों के निवासियों में राष्ट्रीयता के भावों का उदय हो गया, वे अपने राजनैतिक अधिकारों को समझने लगे। बस, जगह जगह स्वतंत्र राष्ट्रों का निर्माण हो गया, जिन्होंने इस साम्राज्य से अलग होकर साम्राज्य के टुकड़े-टुकड़े होने देना ही ठीक समझा। अस्तु, जो साम्राज्य केवल कल्पना के सहारे जीता है जो धर्म का दुरुपयोग कर अंध-विश्वासों को अपना बल समझता है, जो देश काल अर्थात् परिस्थितियों की अवहेलना करता रहता है, जिसके सूत्रधार नैतिक गुणों को तिलाजलि दे देते हैं, उसका पतन अनिवार्य है। क्या उसे आत्मघात का दोषी नहीं कहा जा सकता।

———

पन्द्रहवाँ अध्याय

पतन मीमांसा

हर रोज आदमी मौत के मुँह में चले जा रहे हैं। फिर भी जो जिन्दा है, वे समझते हैं कि हम अमर हैं—कभी नहीं मरेंगे इससे बढ़ कर आश्चर्य की बात और क्या हो सकती है।

—संस्कृत कहावत

नाश, ह्रास आदि के कुछ ऐसे कारण हैं, जो सभी सामाजिक तथा राजनैतिक संस्थाओं पर एक से लागू होते हैं। नीति को दुर्गुणों, तथा शासक जाति के नैतिक आचरण में अज्ञात तथा अदृष्ट ह्रास के आ जाने से भी राजनैतिक ह्रास तथा नाश प्रारम्भ हो जाता है।

—राघवेन्द्र राय

साम्राज्यों के इतिहास पर एक नज़र—संसार में समय-समय पर अनेक राज्य बने। बहुत-से राज्य दूसरे देशों को अपने अधीन करके, प्रायः उनकी सभ्यता या संस्कृति को मिटाकर, अपनी प्रभुता स्थापित करके, अपना विस्तार बढ़ाते गये। इन्होंने साम्राज्य का स्वरूप ग्रहण किया; अपने ज़माने में इनकी खूब चर्चा। इन्होंने विश्व-विजेता बनने का मनसूबा बांधा; पृथ्वी भर पर अपनी धाक जमाने का प्रयत्न किया। जवानी के जोश में इन्होंने किसी को कुछ न समझा। इनके

द्वारा मानव जाति का कभी-कभी कुछ उपकार भी हुआ। पर प्रायः इनकी विशालता और धन-वृद्धि के साथ इनमें ऐश्वर्य, अहंकार और विलासिता बढ़ती गयी। शानशौकत बढ़ी तो आरामतलबी और शारीरिक निर्बलता भी। क्रमशः इनमें नैतिक गुणों का ह्रास हुआ, चाहे इन्हें इसका अनुभव न हुआ हो, और खुशामदी इनकी प्रशंसा के गीत गाते रहे हों। दया, उदारता, आदि की डींग हांकते हुए भी इन्होंने अपनी क्रूरता और संकीर्णता का परिचय दिया। अपने उन्माद में यह मृत्यु को भूल गये, पर मृत्यु तो इन्हें नहीं भूल सकती थी; इनके असंयमी जीवन और अनैतिक आचरण के कारण उसे जल्दी ही आने का अवसर मिला।

जातियों के इतिहास में पांच-दस हजार वर्ष का समय क्या होता है। पर इतनी उम्र भी तो साम्राज्य नहीं भोग पाये। कितनों ही का जीवन काल तो कुछ सौ वर्ष तक ही रहा। और, कुछ तो मनुष्यों की दो-दो तीन-तीन पीढ़ियों में ही समाप्त हो गये। कितनी अल्प आयु वाले रहे, ये साम्राज्य! और, इस थोड़ी-सी जिन्दगी में ये कितने इतराये! कितनी इनकी ऐंठ और अकड़ रही! एक को दूसरे ने पैरों तले रौंदा, दूसरा तीसरे का शिकार हुआ, तीसरे का मान-मर्दन चौथे ने कर दिखाया, फिर पांचवां रंग-मंच पर आया, उसे हटाकर छठे ने अपना झण्डा फहराया। इसी प्रकार क्रम चलता रहा। जो आज जीतने वाला है, कल वही पराजित है। हम अपना विजयगीत सुन रहे हैं, हम खुशी के मारे फूले नहीं समाते; सोचते हैं हमारे जैसा कोई

हुआ न होगा। हम जानते कि इसी समय पर्दे के पीछे, हमारी मरसिया या मृत्यु-संगीत तैयार हो रहा है। हमें भी कूच करना है; दो दिन की बादशाहत है, चाहे हम इस समय का सदुपयोग करलें, चाहे दुरुपयोग ; चाहे नेकनामी हासिल कर लें, और, चाहे बदनामी।

आह इस संसार में कितने साम्राज्य हो गये! उनकी गणना किसने की है! गिनती करना सहज भी नहीं। बहुतों का नामो-निशान भी नहीं रहा। इस समय कुछ इने-गिने साम्राज्य हैं, शेष सब का अन्त हो चुका। पिछले अध्यायों में कुछ साम्राज्यों के पतन पर विचार किया गया, और यह तो केवल उदाहरण मात्र है। इनके अतिरिक्त और कितने ही साम्राज्यों की यह गति हो चुकी है। कुछ साम्राज्यों का क्षय तो हमारे देखते देखते हो रहा है। कुछ में ऐसी घटनाएँ हो रही हैं कि सहज ही यह अनुमान होता है कि पतन का समय आ पहुँचा।

इतिहास ने दिखाया कि जब पश्चिमी योरप पत्थर-युग से ऊपर उठा, उसके बहुत पहले मिश्र और बैबिलन आदि काफी उन्नत हो चुके थे। उन के ह्रास के बाद क्रमशः क्रीट, असुरिया, खालडिया, ईरान और यूनान आदि गिरते गये। इन सब देशों ने एक दूसरे को कुचल कर अपना उत्कर्ष चाहा। यूनान के उत्कर्ष-काल के समय एक दिन लोगों ने देखा—सिकन्दर महान, विश्व के मान-चित्र पर से, कुछ साम्राज्यों को मिटा देना चाहता है। उसकी हविस पूरी नहीं हुई। अभागे सिकन्दर के मृत शरीर पर, रोम हंसता-खिलखिलाता, शोषक होकर आ गया। रोम ने चारों ओर विजय-पताका फहरायी। उसने विश्व पा लिया, पर अपनी आत्मा खो दी। रोम के विकास ने जो विकृत

रूप दिखलाया, उसे पढ़ कर आज भी आँखें खून के आँसू में उभर आती हैं। रोम का भी नामोनिशान मिटा, और अब यह आज के शक्तिशाली योरपीय राष्ट्र आये! इन्होंने भी एक के बाद उसी राह पर कदम रखे, जो इसके पूर्व ऐतिहासिक पथ-प्रदर्शक लोग बना कर छोड़ गये थे। परिणाम जो हुआ, वह मोटे तौर पर है—गत महायुद्ध; इसने सभ्यता के शताब्दियों के जर्जरित निष्प्राण ढांचे का बचा-खुचा आकार भी नष्ट कर दिया। तब से अब तक का इतिहास ताजा है। पिछले महायुद्ध की रक्त-प्लावित मेदनी अभी सूखी भी नहीं थी कि योरप, और योरप ही क्यों, सारा संसार एक बार पुनः वही संहार-लीला देखने के लिए परवाना बन कर अग्नि-शिखा पर कूद पड़ा।

['प्रकाश' से संकलित]

मृत्यु को कारण जान लेना उपयोगी है—यह ठीक है कि प्रायः कोई कोई साम्राज्य अपनी असली स्थिति प्रकट करके अपनी पोल खोलना नहीं चाहता, वह घटनाओं को अपने ढङ्ग विशेष रंग में रंग कर संसार के सामने रखता है। और, यह भी सत्य है कि साधारण आदमियों की तरह बहुत से साम्राज्य अनिष्टकारी प्रतीत होने वाली घटनाओं पर गहरा विचार करना नहीं चाहते। परन्तु इससे उन घटनाओं का होना नहीं रुक सकता। हम अपने प्रेमी की बीमारी देखना सुनना नहीं चाहते, तो इस से वह रोग-मुक्त थोड़े ही होजायगा! हम उसकी भयंकर बीमारी को कुछ दिन छिपा सकते हैं, पर उसके मर जाने पर तो सब उसका हाल जान ही लेंगे। अस्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, व्यक्तियों या संस्थाओं की भाँति साम्राज्यों की भी मृत्यु के कारण क्या होते हैं, साम्राज्य किन-किन बीमारियों में ग्रस्त होते हैं।

मृत्यु के बाहरी कारण—प्रायः हमारी आदत पड़ गयी है कि हम किसी चीज़ को ऊपर से ही देखते हैं, पर गम्भीर विचार नहीं करते; उसकी गहराई तक नहीं जाते। जब किसी आदमी की मृत्यु का कारण पूछा जाता है तो बता दिया जाता है कि उसे बुखार, मोतीझरा, चेचक, हैजा या प्लेग हो गयी। यही नहीं, कभी कभी तो हम सुनते है कि एक आदमी कल तक भला-चंगा था, रात में अचानक उस की तबियत खराब हुई, और कुछ ही देर में उसका देहान्त हो गया। हम प्रायः यह नहीं सोचते कि 'अचानक' या 'अकस्मात' क्या बात है। क्या सृष्टि में कोई बात बिना यथेष्ट कारण के अकस्मात भी होती है? हाँ कभी-कभी ऐसा होता है कि एक आदमी सड़क पर से जा रहा है, पीछे से मोटर आयी, धक्का लगा, आदमी गिर गया और मर गया। ऐसी दुर्घटनाओं से होनेवाली मृत्य को हम अकाल-मृत्यु या आकस्मिक मृत्यु कह सकते हैं। परन्तु तनिक विचार कीजिए; संसार में हर रोज जितने आदमी मरते हैं, उन सब में इस प्रकार दुर्घटनाओं से मरने वाले कितने होते हैं! अधिकतर आदमी तो किसी-न किसी बीमारी से ही मरे बताये जाते हैं। और यह बीमारी तो मृत्यु का प्रत्यक्ष दीखने वाला, तात्कालिक या अन्तिम कारण है। इसके पीछे तो उस मनुष्य का वह जीवन है, वह व्यवहार रहनसहन, या स्वभाव अथवा प्रकृति है, जिससे वह बीमारी उसकी मृत्यु का कारण हो सकी। कोई बीमारी आदमी को उसी दशा में मारती है, जब कि वह

आदमी उस बीमारी से मरने योग्य हो। एक चिंगारी बड़े महल को फूँक सकती है, पर केवल उसी दशा में, जब कि वहाँ ऐसी सामग्री विद्यमान हो, जिस में आग पकड़ने की शक्ति या प्रवृत्ति हो। अस्तु, जो बीमारी किसी आदमी की मृत्यु का कारण बतायी जाती है, वह प्रायः बाहरी कारण होती है। भीतरी कारण अधिक गूढ़, और, इस लिए अधिक विचारणीय होते हैं।

यह बात व्यक्तियों के सम्बन्ध में कही गयी; ठीक यही बात संस्थाओं और साम्राज्यों के लिए है। कोई साम्राज्य क्यों मरा ? इसका बाहरी कारण सब को दीखता है; दूसरे साम्राज्य का उससे युद्ध होगया, या उसी के अधीन देशों या जातियों ने विद्रोह कर दिया। परन्तु क्या इस पर यह प्रश्न उपस्थित नहीं होता कि दूसरा साम्राज्य इसे क्यों हरा सका; इस साम्राज्य के अन्दर क्या विकार थे, जिन के कारण, इसे हारना पड़ा। यदि इस के अधीन देशों या जातियों ने विद्रोह किया तो क्यों किया, और वे इसमें क्यों सफल हुई ?

मृत्यु के भीतरी कारण—एक सुन्दर दृष्टान्त है। महामारी एक नगर से लौटती है, तो फाटक पर उस नगर की देवी उस से पूछती है, तुमने कितने आदमियों की भेंट ली। महामारी कहती है पाँच को। देवी कहती है कि पाँच नहीं, पांच हज़ार आदमी मरे हैं। महामारी कहती है कि मेरा कार्य केवल पांच आदमियों को मृत्यु के घाट उतारने का था; शेष तो पहले ही मरे-मराये थे। वे तो मृत्यु की राह देख रहे थे। अब

उन्हें मरने के लिए मेरा बहाना मिल गया। मैं नगर में न गई होती तो भी वे तो किसी-न-किसी बहाने से मरने वाले ही थे।

इस दृष्टान्त का आशय यह है कि हज़ार में से नौ सौ निन्यानवे आदमी अपनी मृत्यु की सामग्री पहले से जुटाये हुए होते हैं। वे वास्तव में उस बीमारी से नहीं मरते, जो प्रकट रूप से उन्हें मारती हुई दिखायी देती है। इसी प्रकार साम्राज्यों के पतन का असली कारण दूसरों का हमला आदि नहीं होता, जिसे आम तौर पर कारण बता दिया जाता है। जिस समय किसी साम्राज्य का प्रत्यक्ष रूप में पतन होता है, उससे काफी पहले से उसमें कुछ विकार आ जाते हैं, उनसे वह बहुत निर्बल, और बिखरा हुआ सा हो जाता है। बाहर से देखने वालों को वह हृष्टपुष्ट या विस्मृत मालूम होता रहता है, पर वह उस घुन लगे हुए वृक्ष की तरह होता है, जो अपने गिरने की घड़ी की इन्तज़ार करता है। मामूली आदमी जाकर उसे गिरा सकता है। निदान, साम्राज्यों के पतन को समझने के लिए, हमें उन बातों को सोचना चाहिए, जो उनमें घुन लगाती हैं; जो उन्हें पतन से पहले ही मरा हुआ कर देती हैं।

पतन के भीतरी कारण अनेक होते हैं। देश-काल के भेद से कहीं एक कारण मुख्य हो जाता है, और कहीं दूसरा। कुछ अवस्थाओं में दो या अधिक कारण एक-साथ भी अपना प्रभाव डालते हैं। हम यहाँ कुछ मुख्य-मुख्य कारणों का विचार करेंगे।

(१) **वर्ण-भेद**—वर्ण-भेद या जाति-भेद कोई सर्वथा नया रोग नहीं है, थोड़ी-बहुत मात्रा में यह मनुष्य जाति को चिरकाल से घेरता रहा है। यद्यपि प्राचीन भारत में सिद्धान्त यह था कि जाति, गुणकर्म से मानी जाय रामायण-काल तक में ऐसे उदाहरण मौजूद हैं कि अनार्यों और शूद्रों को कई ऐसे अधिकारों से वंचित रखा गया, जो उनकी-सी योग्यता वाले आर्यों तथा द्विजों को प्राप्त थे। जाति को जन्म या रंग से मानने का विचार, पीछे क्रमशः बढ़ता गया।

यद्यपि यूनान वालों ने अपनी उन्नति और वैभव के समय में यथा सम्भव दूर-दूर तक लोगों को एकता और सभ्यता सिखायी उन्होंने प्रायः अपने नागरिक राज्यों में, बाहर वालों को तथा अपने दासों को नागरिकता के अधिकार न दिये। इस प्रकार यूनान में, कुछ अंश में वर्ण या जाति का भेद माना जाता था। उन बातों को दो हजार से अधिक वर्ष हो गये। संसार की आधुनिक सभ्य जातियाँ, विशेषतया साम्राज्य-निर्माण करने-वाले, अपने आपको उनसे कहीं आगे बढ़ा हुआ बतलाते हैं। परन्तु इनके व्यवहार में यह भेद-भाव और भी भयंकर रूप धारण किये हुए है।

वर्तमान काल में गोरी जातियाँ इस बात का बीढ़ा उठाये हुए हैं कि संसार की जनता दो भागों में बंटी रहे—एक भाग गोरी जातियों का, और दूसरा रंगदार जातियों का। गोरी जातियाँ शासक, स्वाधीन, सुख भोगनेवाली हों; और, रंगदार जातियाँ शासित, पराधीन और जैसे तैसे उदर-पूर्ति करनेवाली

हों। प्रत्येक देश में स्वास्थ्यप्रद, उपजाऊ भूमि पर गोरी जातियों की बस्तियां हों, उनके सुन्दर नगर, बगीचे तथा खेल और दिल बहलाने के स्थान आदि बने हों; और बची-खुची कम उपजाऊ और खराब भूमि में रंगदार आदमी निर्वाह करें। गोरी जातियों के उत्तम स्थानों में रंगदार आदमियों के लिए 'प्रवेश-निषेध' होता है, अथवा, उन्हें कुछ ऐसी शर्त पर ही वहाँ रहने की इजाजत दी जाती है कि वे नौकर या गुलाम होकर रहें स्वतंत्र नागरिक की भाँति नहीं।

बहुधा, सभ्यता का दम भरने वाले, गोरी जातियों के साम्राज्य केन्द्रों में रंगदार जातियों के आदमियों से—चाहे वे उस साम्राज्य के अन्दर ही रहने वाले क्यों न हों—अच्छा व्यवहार नहीं किया जाता। उनके कारखाने वाले इन्हें औद्योगिक शिक्षा देना नहीं चाहते, इन्हें भर्ती न करने के वे अनेक बहाने बना देते हैं। कहीं तो इन्हें किराया देने पर भी रहने के लिए मकान नहीं मिलते। नाचघरों, जलपानघरों, होटलों और सिनेमा तथा नाटक-घरों एवं अन्य विविध तमाशों में, इन्हें इस लिए स्थान नहीं दिया जाता कि प्रबन्धक जानते हैं कि गोरी जातियों के आदमी इनके साथ बैठने-उठने में अपनी बेइज्जती समझते हैं। यह वर्ण भेद असभ्य मानी जानेवाली जातियों को असन्तुष्ट और साम्राज्य-विरोधी बनाता है, और साम्राज्य के पतन में सहायक होता है।

(२) धार्मिक पक्षपात— वर्ण-भेद से मिलता हुआ, साम्राज्य पतन का एक कारण धार्मिक अर्थात् साम्प्रदायिक

पक्षपात है। प्राचीन काल में धर्म के नाम पर कितनी हिन्सा, क्रूरता और हत्याकांड हुआ है! प्रायः प्रत्येक धर्म वालों का विश्वास होता है कि हमारा ही धर्म सच्चा और श्रेष्ठ है। छल से, कपट से, प्रलोभन से, और जोर-जबरदस्ती से, यहां तक कि तलवार के बल पर भी, जैसे बने आदमी अपने मतानुयाइयों की संख्या बढ़ाना अपना कर्तव्य समझते हैं। फिर, साम्राज्यों की तो बात और भी बढ़ कर रहनेवाली ठहरी। सम्राट् धार्मिक पक्षपात के वशीभूत होकर अपनी शक्ति और द्रव्य का कितना दुरुपयोग कर सकता है, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

आधुनिक काल उदारता का युग कहा जाता है, पहले की बातें अब निन्दा और घृणा की दृष्टि से देखी जाती हैं, फिर भी शासक जाति अपने धर्म वालों को जितना सुख, सुविधाएं और उच्च पद प्रदान करती हैं, उसकी तुलना में वह अन्य धर्मावलम्बियों के साथ कैसा व्यवहार करती हैं, यह खुला रहस्य है। अस्तु, धार्मिक पक्षपात की नीति से जिन लोगों को कष्ट या असुविधाएँ होती हैं, वे क्रमशः साम्राज्य का शत्रु बन जाते हैं, और अवसर पाने पर अपनी स्वतन्त्रता की पताका फहराने लगती हैं। और यह पताका साम्राज्य के पतन की ही तो सूचना देनेवाली होती है।

(३) भौतिक उन्नति और शोषण—अब भौतिक उन्नति और उसके दुरुपयोग की बात लीजिए। संसार-यात्रा के लिए भौतिक या आर्थिक उन्नति करना आवश्यक है। परन्तु

प्रत्येक बात की एक सीमा होती है। मर्यादा उल्लङ्घन करने पर अच्छी वस्तु भी हानिकर हो जाती है। जो साम्राज्य भौतिक उन्नति में ही अपनी सब शक्ति लगा देता है, जो दूसरों को दबा कर, सता कर, छल से, बल से, या कपट से उनका शोषण करता है, उसका भविष्य चिन्तनीय होने वाला ठहरा। फिर, आज कल विज्ञान से भौतिक उन्नति के बहुत से नये साधनों का आविष्कार हो गया है, और, होता जा रहा है। जो साम्राज्य इन साधनों को अपने ही स्वार्थ के लिए व्यवहार में लाता है, वह अपने अधीन देशों या जातियों में विद्रोह की भावना पैदा करता है, और, इस प्रकार अपना विध्वंस करने में सहायक होता है।

जो लोग पराधीनता का कष्ट पाते हैं, जिनका नित्य शोषण होता रहता है, वे चिरकाल तक 'मूर्खों के स्वर्ग' में नहीं रह सकते। थोड़े बहुत समय में उनमें स्वाधीनता की भावना जागृत हो जाती है। वह यह समझने लग जाते हैं कि हमें अपने घर का स्वयं प्रबन्ध करना चाहिए, चाहे उसमें जितनी कठिनाई उपस्थित हो; दूसरों द्वारा शासित होना हमारे लिए अपमान-कारक है। हम अपने प्रभुओं के लिए 'पीर बावर्ची-भिश्ती-खर' क्यों रहें! हम अपनी आवश्यकताओं की वस्तुएँ स्वयं ही क्यों न बनावें।' इस प्रकार राजनैतिक तथा आर्थिक स्वावलम्बन के भावों से प्रेरित होकर वे स्वाधीनता का प्रयत्न करते हैं। वे स्वभाग्य-निर्णय की माँग करते हैं। उनका दमन किया जाता है, पर वह अन्त में सफल नहीं होता।

कभी-कभी पराधीन देशों में एक और भावना का भी उदय हो जाता है। शासक अपने साम्राज्य की रक्षा या वृद्धि के लिये अधीन देश की जनता से तैयार की हुई सेना से भी काम लेना चाहते हैं। साधारण आदमी तो, स्वार्थ-वश या अज्ञान के कारण, अपने स्वामी की इच्छा-पूर्ति करते रहते हैं। परन्तु सभी लोग भेड़ों की तरह नहीं होते। कुछ व्यक्तियों में स्वतन्त्र विवेक-बुद्धि होती है, और स्वार्थ-त्याग भी होता है। ये सोचते हैं कि हम स्वयं तो पराधीन हैं ही, पर दूसरों का शोषण क्यों करावें। बस, ये सेना में भरती नहीं होते, तथा अपने देश-बन्धुओं को भी भरती होने से रोकते हैं। इससे इनके शासक नाराज होते हैं और इन्हें दंड देते हैं। पर ज्यों-ज्यों इन्हें कष्ट दिया जाता है, लोगों को इनके प्रति सहानुभूति बढ़ने लगती है! इनका दल क्रमशः बढ़ता जाता है। यह दल इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि जब तक हमारा देश पराधीन है, तभी तक हमारे द्वारा दूसरों का शोषण कराया जा सकता है, इसलिए इससे बचने का एक-मात्र उपाय स्वाधीन हो जाना है। यह सोचकर ये अपने उद्धार के लिए कमर कसने लगते हैं। इन्हें अपनी स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए कभी कभी बहुत वर्षों तक रहने वाले कड़े संघर्ष का सामना करना पड़ता है; परन्तु अंगरेज कवि ने सच कहा है कि स्वतन्त्रता का युद्ध एक बार आरम्भ हो जाने पर उसमें चाहे जो घबराहट आदि हो, अन्त में विजय प्राप्त करके ही रहता है।

(४) **विलासिता और सभ्यता**—साम्राज्यवादी देश

अपनी राजनैतिक प्रभुता तथा व्यवसायिक उन्नति से अधिकाधिक धनवान होते जाते हैं, और इससे उनके निवासियों में बिलासिता, आलस्य, दुराचार आदि की वृद्धि होती है। उनका बल पौरुष घट जाता है, और इससे उनकी आबादी घट जाती है। जिस साम्राज्य के केन्द्रों का बुढ़ापा और मृत्यु घेर ले, वह कब तक ठहर सकता है! पिछले वर्षों में कई साम्राज्यों ने अपने यहाँ की जनसंख्या बढ़ाने के लिए तरह-तरह के प्रोत्साहन दिये हैं? विलास-प्रिय धनवानों की संतान कम और दुर्बल होती है। इसके विपरीत, शारीरिक श्रम करनेवाली, कम धनवान और कम 'सभ्य' जातियाँ बराबर बढ़ती रहती हैं; आगे पीछे अपना सगठन करती हैं, और आवश्यक साधन जुटाकर 'सभ्य' जातियों के कमजोर साम्राज्यों का अन्त करने पर उतारू हो जाती हैं।

(५) साम्राज्यवादी देशों में ही साम्राज्य-विरोधी; (क) श्रमजीवी—पिछले वर्षों में पराधीन देशों में बहुत जागृति हुई है, वे स्वाधीनता प्राप्ति के लिए संगठित आन्दोलन करते हैं। इन आन्दोलनों से, साम्राज्यवादी देशों के भी बहुत से आदमी सहानुभूति रखते हैं, और वे इनमें यथा-सम्भव सहयोग प्रदान करते हैं। वे दलित देशों की अन्तर्राष्ट्रीय परिषदों में भाग लेते हैं, और उनके संचालन में आर्थिक सहायता देते हैं। इसमें जो बात विशेष ध्यान देने की है, वह है साम्राज्य वादी देशों में ही साम्राज्य के विरोधियों का पैदा हो जाना। पहले-पीछे श्रमजीवी दल यह अनुभव करने लगता है कि पराधीन जातियों का धन अपहरण करने से श्रमजीवियों का

कुछ लाभ नहीं होता; यदि कुछ लाभ होता है तो मुट्ठी भर पूंजीपतियों का ही होता है। श्रमजीवियों की दशा में कोई विशेष सुधार नहीं हो पाता। वे असन्तुष्ट बने रहते हैं।

(ख) कर-दाता—जब कोई राज्य साम्राज्य बनने लगता है, दूसरे देशों को विजय करने लग जाता है, तो उसकी विजय की भूख निरन्तर बढ़ती रहती है। अपनी शक्ति बढ़ाने के लोभ में साम्राज्य नित्य नयी विजय करते रहना चाहता है। उसकी वासना की कहीं सीमा नहीं रहती। विजय का साधन छलकपट या कूट-नीति भी होती है, पर प्रायः आगे-पीछे युद्ध का मार्ग ग्रहण किया जाता है। युद्ध के लिए विशेष धन चाहिये, और इसके वास्ते जनता पर कर लगाने पड़ते हैं; कभी-कभी दूसरे राज्यों से ऋण लिया जाता है, और इस ऋण का व्याज चुकाने के लिए अपने देशवासियों पर कर बढ़ाने होते हैं। प्रत्येक दशा में कर-दाताओं को असन्तोष होता है, और वे अन्त में अपने यहाँ के शासकों की साम्राज्यवादी नीति का विरोध करने लगते हैं।

(ग) दार्शनिक, कवि, लेखक आदि—श्रमजीवियों और करदाताओं के अलावा दूसरे भी कुछ सज्जन ऐसे होते हैं, जो साम्राज्यवादी देश के होते हुये भी साम्राज्य का विरोध करते हैं। ये दार्शनिक, दूरदर्शी, उदार दृष्टिकोण वाले विचारक, कवि या लेखक होते हैं। ये दूसरों के दुखी से दुख होते हैं, और साथ ही यह अनुभव करते हैं कि देश को दासता की जंजीरों में बाँधने वाला देश अन्त में अपना भी अनिष्ट करता है। इनकी सूक्ष्म दृष्टि से यह बात छिपी नहीं रहती कि हमारे आदमी पराधीन

देशों के शासक बनकर निरंकुश, स्वेच्छाचारी और विलासी हो जाते हैं, और पीछे इन दुर्गुणों को हमारे देश में लाते हैं; इससे बचने का उपाय यही है कि हम किसी को अपनी अधीनता में न रखें। ये महानुभाव संसार को स्वाधीनता, प्रेम, और भ्रातृ-भाव का संदेश देते हैं। सत्ताधारियों को यह सहन नहीं होता।

स्वतंत्र विचारकों के लिए सत्ताधारियों की ओर से प्रायः जेल, कालापानी, देश निकाला या प्राण-दंड का उपहार तैयार रहता है; भले ही आने वाली पीढ़ियाँ उन्हें अपना मुक्तिदाता, शिक्षक या पूज्य मानें महाभारत के समय में कंस, शिशुपाल, जरासंध और दुर्योधन सदैव कृष्ण के खून के प्यासे रहे। यूनान ने सुकरात को विष के प्याले को भेंट की, और रोम ने ईसा मसीह को सूली पर चढ़ाया। और, आधुनिक साम्राज्य अपने-अपने कृष्ण, सुकरात और ईसा मसीह का कब कुछ अच्छा स्वागत करते हैं!

अस्तु, साम्राज्यवादी देशों में इन साम्राज्यवाद—विरोधियों का पैदा होना ऐसा ही है, जैसा लंका में विभीषण का होना, अथवा हिरण्यकश्यप के यहाँ प्रह्लाद का होना। यह ठीक है है कि आरम्भ में विभीषण या प्रह्लाद अपने भाई-बन्धों या बुजुर्गों का कुछ लिहाज़ करते हैं, नम्रता-पूर्वक उन्हें समझाते-बुझाते हैं, पर सफल न होने पर, ये धर्म-युद्ध के लिए कमर कस लेते हैं। निदान, दलित जातियों के संगठन को, श्रमजीवियों, कर-दाताओं और भाई चारे की भावना वाले महानुभावों के विचार लेख और भाषण आदि से बड़ी सहायता मिलती है। साम्राज्य-वादी देशों के पास सैनिक या पाशवी शक्ति का अपरिमित बल

होता है, परन्तु ये नैतिक शक्ति को कबतक पराजित कर सकते हैं; विशेषतया जबकि इनके यहां घर के भेदी विभीषण मौजूद हों !

(६) साम्राज्यों का स्वार्थ ; महायुद्ध—भिन्न-भिन्न साम्राज्यों के प्रायः एक दूसरे के प्रति विद्वेश, ईर्षा और मनोमालिन्य होता है। बात यह है कि उनके स्वार्थों का संघर्ष होता है, प्रत्येक चाहता है कि उसके अधीन देशों की संख्या, विस्तार, और आय तथा महत्व बढ़ता रहे। आरम्भ में साम्राज्यवादियों के शिकारगाह के लिए विस्तृत भू-खंड पड़े थे। जो जिधर निकल गया, उसने उधर अधिकार जमा लिया। जो देर में चेते, वे घाटे में रहे। उन में अशान्ति और असंतोष हुआ। इन्हें मनचाही भूमि प्राप्त करने के लिए पहले के साम्राज्यों से भिड़ना पड़ता है। उधर बड़े बड़े साम्राज्यों को अपना आकार और शक्ति तथा वैभव बनाये रखने की चिन्ता है। इस प्रकार एक साम्राज्य दूसरे साम्राज्य से लड़ाई मोल लेता है, और उसे विध्वंस करने का प्रयत्न करता है। वह अपनी सेना में नित्य नयी बृद्धि करने में दत्तचित्त रहता है। प्रायः प्रत्येक साम्राज्य कुछ साम्राज्यों से दोस्ती कर लेता है, और इस प्रकार साम्राज्यों के परस्पर-विरोधी गुट बन जाते हैं। और, एक साम्राज्य का दूसरे साम्राज्य से युद्ध होने का अर्थ, साम्राज्यों के एक गुट का दूसरे गुट से युद्ध, हो जाता है। नतीजा यह होता है कि, संसार में हर घड़ी महायुद्ध या विश्व-व्यापी युद्ध की आशंका रहती है। महायुद्धों से साम्राज्यों की भारी क्षति होती है। ये साम्राज्यों के पतन में बहुत सहायक होते हैं।

साम्राज्यों पर अपने पतन का उत्तरदायित्व; व्यक्तियों का दृष्टांत—हमने साम्राज्यों के पतन के विविध कारणों का विचार किया है। असल में, पतन के भीतरी कारणों का बड़ा महत्व होता है। जिसे हम उन्नति, वृद्धि, विस्तार या सभ्यता आदि कहते हैं, उनके मूलमें निर्बलता, ह्रास और पतन की बात होती है। यह बात जैसी व्यक्तियों के सम्बन्ध में है, वैसी ही संस्थाओं तथा साम्राज्यों के सम्बन्ध में है। विचारार्थ कुछ बातें नीचे दी जाती हैं:—

१—कुछ मां बाप बच्चों को बहुत अधिक बढ़िया, स्वाद, चटपटा या अमीरी भोजन कराते हैं। उनका ख्याल होता है, कि खूब खाने से बालक हृष्ट-पुष्ट होगा। परन्तु प्रायः बालक उसे अच्छी तरह हजम नहीं कर सकता, वह बीमार पड़ जाता है। मां-बाप अनावश्यक भोजन खिलाने का मोह नहीं छोड़ते। इसका दुष्परिणाम सब जानते हैं। साम्राज्यों के सूत्रधार भी विजयपर विजय करके, साम्राज्य को अधिकाधिक हृष्ट-पुष्ट करना चाहते हैं। वे कभी भी अपनी विजय से संतुष्ट नहीं होते। कुछ और, कुछ और, की तृष्णा बनी रहती है। वे नहीं सोचते कि ये विजय अन्त में कितनी मँहगी पड़ेंगी; ये प्राणघातक सिद्ध होंगी।

२—साधारण बुद्धि वाले मां-बाप यह जानते हैं कि बालकों का कहीं से कोई चीज़ चुरा कर, या किसी से छीन झपट कर लाना अनुचित है। अतः जब बालक कोई ऐसा कार्य करते हैं तो मां-बाप उन्हें डांटते फटकारते हैं, जिससे वे भविष्य में ऐसा न करें। पर, साम्राज्यों की तो बात ही उलटी है। जो आदमी साम्राज्य का जनधन या भूमि बढ़ाता है, उसे सार्वजनिक मान-

सम्मान तथा प्रतिष्ठा दी जाती है। चाहे उसे व्यक्ति के उपाय कितने ही निन्दनीय क्यों न रहे हों, चाहे उसने छल, कपट, लूट, हत्या आदि कुछ भी क्यों न किया हो, वह साम्राज्य का स्तम्भ या साम्राज्य-निर्माता समझा जाता है। उसे 'महान' पद प्रदान किया जाता है। यह बात भुला दी जाती है कि जो बात किसी व्यक्ति के लिए अपराध है, वह संस्था या साम्राज्य के लिए भी अपराध मानी जानी चाहिए। अहंकार, लोभ, तृष्णा, लूट और शोषण दुर्गुण ही है, चाहे व्यक्ति में हों, या साम्राज्य में। पर अधिकांश साम्राज्यों की नींव तो इन दुर्गुणों पर ही रखी जाती है; फिर, इनका पतन क्यों न हो।

३—बहुत से धनी मा-बाप अपनी संतान को यथा-संभव शारीरिक श्रम नहीं करने देते। वे समझते हैं कि यदि हमारे बालक मेहनत करेंगे, तो इससे हमारी निर्धनता या कृपणता सूचित होगी। वे बालकों को नहलाने-धुलाने और कपड़े पहनने तक के लिए, नौकर रखते हैं। बालक को थोड़ी दूर भी जाना हुआ, तो सवारी चाहिये. सेर-दो सेर वज़न का कहीं लेजाना हुआ तो मज़दूर का होना आवश्यक है। पहिनने के वास्ते तरह तरह के रंगीन, भड़कीले वस्त्र, और सोने-बैठने के लिए मुलायम गद्दे-बिछौने रहते हैं। इस प्रकार माता-पिता बालकों को सुकुमार और शौकीन बना देते हैं। वे नहीं जानते कि आरामतलबी और नज़ाकत मनुष्यता का ह्रास करने वाली हैं। इसी प्रकार धनी साम्राज्य के सूत्रधार भी साम्राज्य को मेहनती और कष्ट सहने वाला न रहने देकर उसे विलासिता और ऐश्वर्य में फसा देते हैं।

वे अभिमान-पूर्वक संसार को बताते हैं कि हमारी अधीनता में इतने आदमी, या इतने प्रदेश हैं। शासक अपनी सभ्यता की डींग हाँकते हैं, और असभ्यों को सभ्य बनाने का दम भरते हैं। अफसोस ! यह धन, यह सभ्यता, यह वैभव ही उन्हें डुबाने वाला होता है। इतिहास में कितनी बार 'असभ्यों' ने सभ्यों पर विजय पायी है !

हम ऊँची जाति के बने, हमने दूसरों को नीच समझा। यही तो हमारी तंगदिली है; हृदय का रोग है। हमने संसार को धर्म की शिक्षा देने का बीड़ा उठाया, पर हमने अपना धर्म नहीं समझा, और समझा भी तो उसका पालन न किया ! फिर, हमारा ह्रास या विनाश न हो तो क्या हो; और इसका उत्तर-दायित्व हमारे सिवाय और किस पर है !

आशा की किरण—हमने कहा है कि साम्राज्यों के पतन का प्रमुख कारण वे स्वयं ही हैं। वे ऐसे मार्ग का अवलम्बन करते हैं जिससे जल्दी या देर में उनका पतन अनिवार्य हो जाता है। यदि वे अपना रंग-ढङ्ग सुधार लें, उनका सबसे प्रबल शत्रु जाता रहेगा; उनका पतन बहुत-कुछ रुक जायगा। क्या सुधार की कुछ आशा है ? चारों ओर वातावरण बहुत खराब है। फिर भी हम नितान्त निराशावादी नहीं हैं। हम नितान्त निराशा-वादी नहीं हैं हम आशा की एक किरण देखते हैं, यद्यपि वह अभी बहुत बारीक है। आशा की झलक इस बात में है कि अब 'साम्राज्य' शब्द का महत्व घट गया है, इसका आदर जाता रहा। यहाँ हिंसा और जबरदस्ती का सूचक माना जाता

है। कोई साम्राज्य यह कहना नहीं चाहता कि वह साम्राज्यवादी है, या यह कि वह साम्राज्यवाद के लिए लड़ता है। प्रत्येक साम्राज्य यही कहता है कि हम दूसरों की रक्षा और स्वतन्त्रता के लिए लड़ते हैं। हम अपने अधीन भागों को स्वभाग्य निर्णय का अधिकार देते हैं। प्रायः उनका यह दावा सत्य नहीं होता, पर इससे उनके ऊपर एक दायित्व आ जाता है। सम्भव है, आगे पीछे वे अपनी बात पूरी करने के लिए प्रेरित हों।

साम्राज्यों का हित—निदान, साम्राज्यों का भला इसीमें है कि अपने क्षेत्र को सीमित रखें, दूसरों के शोषण और दमन नीति छोड़ दें, और जब उनके अधीन देश स्वाधीन होने की माँग पेश करें तो टालमटोल न कर, उन भागों को सहर्ष स्वाधीन होने दें। ऐसा होने पर किसी साम्राज्य के लिए, दूसरे से ईर्षा करने का कोई कारण न रहेगा, और सब संघर्ष निर्मूल हो जायगा। इस पर यह कहा जा सकता है कि यदि साम्राज्य अपने लोभ और तृष्णा का परित्याग कर दें, और अपने अधीन देशों को उनकी इच्छानुसार स्वाधीन करते रहा करें तो साम्राज्य 'साम्राज्य' ही कैसे रह सकते हैं? उनका तो काया-पलट ही हो जायगा? वे तो स्वाधीन राष्ट्रों के संघ हो जायँगे।

यह ठीक है; पर इसमें हर्ज ही क्या है! इससे मानव जाति का हित ही होगा। चिरकाल से एक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या विद्यमान है—साम्राज्य दूसरों को अपने अधीन करके बढ़ते हैं, अधिकाधिक विशाल बनते हैं, उनमें ऐश्वर्य और विलासिता आती है, उनसे दूसरों की ईर्षा बढ़ती है और वे नैतिक गुणों से

हीन हो जाते हैं, और किसी-न-किसी प्रकार मृत्यु के शिकार हो रहते हैं। साम्राज्यों की यह दुखान्त कथा खुली पड़ी है; जो चाहे, इसे पढ़ सकता है। यदि वर्तमान साम्राज्य प्रजातंत्रात्मक स्वतंत्र राष्ट्रों के संघ बनना स्वीकार कर लें, तो ये अपने भविष्य की चिन्ता से मुक्त हो सकते हैं।

साम्राज्यों से प्रश्न—प्रत्येक साम्राज्य से यह प्रश्न है कि वह क्या पसन्द करता है। क्या वह लोक-कल्याण के लिए, एवं स्वयं अपने उद्धार के हेतु, साम्राज्यवाद का चोला उतार फेंकने के लिए, वास्तव में, सच्चाई और ईमानदारी के साथ, स्वयं तैयार है ? क्या वह स्वाधीन राज्यों का संघ बनाने में सहर्ष भाग लेना स्वीकार करता है ? क्या वह राष्ट्रों में भ्रातृ-भाव, बिरादरी या भाईचारा कायम करने के शुभ कार्य में योग देगा ? अथवा, क्या वह उस समय की प्रतीक्षा करेगा, जब कि वह इस कार्य को करने के लिए मजबूर हो जायगा, और उसमें इसका यश लेने की शक्ति ही न रहेगी ? संसार में मूर्खता के उदाहरण उपस्थित करने वाले अनेक हैं, दूरदर्शियों का भी अभाव नहीं है। हमें बुद्धिमान होना चाहिए। बहुतों का इतिहास हमारे सामने है, क्या हम उससे शिक्षा न लेंगे ? जब कोई कार्य करना ही है, तो क्यों न हम उसे खुशी और उमंग से शीघ्र कर डालें ! समय पर करने में खूबसूरती है; देर करने से मज़ा नहीं रहता। कुछ साहस की आवश्यकता है, त्याग की जरूरत है; स्वयं हमारे स्वार्थ के लिए भी यह कदम उठाया जाना लाज़मी है। क्या हम विचार करेंगे ?